वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४८ अंक ७ जुलाई २०१०

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ७

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४८ **जुलाई २०१०** **अंक ७**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

भानुप्रभासंजनिताभ्रपङ्क्ति-
र्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा ।
आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्त्वं
तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ।।१४२।।

अन्वय – भानु-प्रभा-संजनिता-अभ्र-पङ्क्तिः भानु तिरोधाय यथा विजृम्भते तथा आत्म-उदित-अहंकृतिः आत्म-तत्त्वं तिरोधाय स्वयम् विजृम्भते ।

अर्थ – जैसे सूर्य के तेज से निर्मित होनेवाली बादलों की पंक्ति सूर्य को ही ढककर स्वयं को प्रकाशित करने लगती हैं, वैसे ही आत्मा से उदित होनेवाला अहंकार आत्म-तत्त्व को ढककर स्वयं को प्रकाशित करने लगता है ।

कवलितवदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
र्व्यथयति हिमझंझावायुरुग्रो यथैतान् ।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ।।१४३।।

अन्वय – यथा दुर्दिने सान्द्र-मेघैः कवलित-दिननाथे उग्रः हिम-झंझावायुः एतान् व्यथयति, (तथा) अविरत-तमसा आत्मनि आवृते तीव्र-विक्षेपशक्तिः मूढबुद्धिं बहुदुःखैः क्षपयति ।

अर्थ – जैसे बुरे मौसम वाले दिन सूर्य घने बादलों से ढक जाने पर, ठण्डी हवा की आँधी बादलों को आकाश में इधर-उधर भगाती रहती है; वैसे ही आत्मा के निश्छिद्र अज्ञान-अन्धकार द्वारा ढक लिये जाने पर प्रबल विक्षेप-शक्ति मूढ़-बुद्धि व्यक्ति को अनेक प्रकार से कष्ट देते हुए पीड़ित करती है ।

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वाऽऽत्मानं भ्रमत्ययम् ।।१४४।।

अन्वय – एताभ्यां शक्तिभ्यां एव पुंसः बन्धः समागतः याभ्यां विमोहितः अयम् आत्मानं देहं मत्वा भ्रमति ।

अर्थ – (आवरण तथा विक्षेप) इन दो शक्तियों के कारण ही व्यक्ति बन्धन में पड़ा है; और इन्हीं से भ्रमित होकर वह देह को ही आत्मा समझकर संसार में भटकता रहता है ।

बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः ।
अग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं
नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ।।१४५।।

अन्वय – संसृति-भूमिजस्य बीजं तु तमः, देहात्मधीः अङ्कुरः, रागः पल्लवम्, कर्म अम्बु तु, वपुः स्कन्धः, असवः शाखिकाः, इन्द्रिय-संहतिः अग्राणि, विषयाः पुष्पाणि च नाना-कर्म-समुद्भवं बहुविधं दुःखं फलम्, अत्र भोक्ता जीवः खगः ।

अर्थ – इस संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है, देह में आत्मबुद्धि इसका अंकुर है, आसक्ति इसकी कोमल पत्तियाँ हैं, कर्म जल है, शरीर तना है, प्राण इसकी शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ इसका अग्रभाग हैं, शब्द-स्पर्श-रूप आदि विषय इसके पुष्प हैं और विभिन्न कर्मों द्वारा उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख इसके फल हैं । जीव-रूपी पक्षी इस संसार-वृक्ष के फलों का भोक्ता है ।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण वन्दना

– १ –

(आसावरी–एकताल)

अवतार पुनः लेकर तुम आये हो धरा पर,
अज्ञान-दुख मिटाने, प्रज्ञान-पथ दिखाकर ।।

त्रेता में राम आये, द्वापर में कृष्ण छाये,
इस युग में चित लुभाये, वो रामकृष्ण होकर ।।

सब पन्थ सब मतों की, जीवन में साधना की,
हर धर्म एक पथ है, घोषित किया अनन्तर ।।

है लक्ष्य जिन्दगी का, बस ईश-प्राप्ति नीका,
व्याकुल उन्हें पुकारो, कामादि दोष तजकर ।।

आलस-प्रमाद में रत, सदियों से पड़ा भारत,
आह्वान कर जगाने, लाये विवेक-भास्कर ।।

– २ –

(छायानट–कहरवा)

रे मन, रामकृष्ण जप लीजै ।
भवसागर में जीवन नौका,
निशिदिन पल-पल छीजै ।।

भोग-विषय की चाह न करना,
सुख-दुख की परवाह न करना,
जासो जनम सफल हो अपनो,
ताही में चित दीजै ।।

मैं-मेरा का बन्धन तोड़ो,
नाम-दाम से गाँठ न जोड़ो,
पूरे तन-मन हृदय-प्राण से,
प्रभु आराधन कीजै ।।

पूजन-भजन-स्मरण-शरणागति,
इनमें हो 'विदेह' तेरी मति,
अन्तर्यामी घट-घट वासी, सबकी सेवा कीजै ।।

अग्निमयी उक्तियाँ

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

हमें 'साहसी' शब्द और उससे भी अधिक 'साहसी' कर्मों की आवश्यकता है। उठो! उठो! संसार दु:ख से जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो? हम बार-बार पुकारें, जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और है ही क्या? इससे महान् कर्म क्या है?[१]

मेरे बच्चो, याद रखना कि कायर तथा दुर्बल लोग ही पापाचरण करते हैं और झूठ बोलते हैं। साहसी तथा शक्तिशाली लोग सदा ही नीति-परायण होते हैं। नीतिपरायण, साहसी तथा सहानुभूति-सम्पन्न बनने का प्रयास करो।[२]

आओ, मनुष्य बनो! अपनी कूप-मण्डूकता छोड़ो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, दुनिया के दूसरे देश किस प्रकार आगे बढ़ रहे हैं! क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि –'हाँ' – तो आओ, हम लोग उच्चतर और बेहतर चीजों के लिये संघर्ष करें। पीछे मुड़कर मत देखो। तुम्हारे परम निकट और प्रियजन रोते हों, तो रोने दो। पीछे देखो ही मत; बस, केवल आगे बढ़ते जाओ!

भारतमाता कम-से-कम एक हजार युवकों की बलि चाहती है, ध्यान रहे – मनुष्यों की, पशुओं की नहीं।[३]

धीरता और दृढ़ता के साथ चुपचाप काम करना होगा। समाचार-पत्रों के द्वारा हल्ला मचाने से काम न होगा। सर्वदा याद रखो – नाम कमाना हमारा उद्देश्य नहीं है।[४]

क्या समता, स्वतंत्रता, कर्मठता और पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? इसके साथ ही अपने धर्म-विश्वास तथा साधनाओं में क्या तुम एक कट्टर हिन्दू हो सकते हो? यह हमें करना है और अवश्य करेंगे। तुम सबने इसी कार्य के लिये जन्म लिया है। स्वयं पर विश्वास रखो। दृढ़ विश्वास महान् कार्यों का मूल है। निरन्तर बढ़े चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिये सहानुभूति – यही हमारा मूलमंत्र है। वीर युवको! बढ़े चलो![५]

प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिये तीन चीजें आवश्यक हैं –

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग

३. जो भला बनने या भलाई के कार्यों में प्रयत्नशील हों, उनकी सहायता करना।[६]

किसी भी व्यक्ति या किसी वस्तु की आशा मत करो। जितना कुछ स्वयं कर सकते हो, करो। किसी के ऊपर अपनी आशा का महल खड़ा मत करो।[७]

महान् कर्म, केवल महान् बलिदानों द्वारा ही सम्भव हैं। स्वार्थपरता की आवश्यकता नहीं, नाम की भी नहीं, यश की भी नहीं – तुम्हारी नहीं, मेरी नहीं, यहाँ तक कि मेरे गुरुदेव की भी नहीं। मेरे बच्चो, मेरे वीर-भले-महान् आत्माओ, कर्म करो, भावों – योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करो, अपने कन्धों को पहिये से लगा दो। नाम, यश या किसी अन्य तुच्छ वस्तु के लिये मुड़कर देखने के लिये मत ठहरो। स्वार्थ को उखाड़ फेंको और काम करो।[८]

वेद कहते हैं – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – उठो! जागो! लक्ष्य पर पहुँच जाने के पहले रुको मत। जागो! जागो! लम्बी रात बीत रही है, सूर्योदय का प्रकाश दिखायी दे रहा है। महातरंग उठ चुकी है, कोई भी इसका प्रतिरोध नहीं कर सकेगा। ... उत्साह, मेरे बच्चो, उत्साह! प्रेम, मेरे बच्चो, प्रेम! श्रद्धा और विश्वास। डरो नहीं। भय ही सबसे बड़ा पाप है।[९]

कार्य की सामान्य शुरुआत को देखकर डरो मत। बड़ी चीजें बाद में आएँगी। साहस रखो। अपने भाइयों का नेता बनने की कोशिश मत करो, बल्कि उनकी सेवा करते रहो। नेता बनने की इस पाशविक प्रवृत्ति ने जीवन-रूपी समुद्र में अनेक बड़े-बड़े जहाजों को डुबा दिया है। इस विषय में सावधान रहना, अर्थात् मृत्यु तक को तुच्छ समझ कर नि:स्वार्थ हो जाओ और काम करते रहो।[१०]

खूब परिश्रम करते रहो। पवित्र और शुद्ध बनो – उत्साहाग्नि स्वयं ही प्रज्वलित हो उठेगी।[११]

मेरे वीर हृदय युवको, विश्वास रखो कि तुम सबका जन्म अनेक महान् कार्य करने के लिये हुआ है। कुत्तों के भूँकने से

मत डरो – नहीं, स्वर्ग के वज्र से भी मत डरो। उठकर खड़े हो जाओ और कार्य में लगे रहो।[१२]

लोग जो चाहें, कहने दो; अपनी निष्ठाओं में दृढ़ रहो – फिर कोई चिन्ता नहीं, दुनिया तुम्हारे पैरों तले आ जाएगी। लोग कहते हैं – "इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो", मैं कहता हूँ – "पहले स्वयं पर विश्वास करो।" यही सही रास्ता है।[१३]

कहो – "मैं सब कुछ कर सकता हूँ।" "नहीं, नहीं" – कहने से तो साँप का विष भी बेअसर हो जाता है।[१४]

अदम्य ऊर्जा के साथ कार्य आरम्भ कर दो। भय की क्या बात है? किसमें शक्ति है, जो बाधा डाले? ... भय! किसका भय? कोई शंका मत करो।[१५]

त्याग-त्याग – इसी का अच्छी तरह प्रचार करना होगा। त्यागी हुए बिना तेजस्विता नहीं आती।[१६]

मा भैः मा भैः – डरो मत! धीरे-धीरे सब कुछ ठीक हो जाएगा। मेरी तुम लोगों से यही आशा है कि आत्म-प्रदर्शन, दलबन्दी तथा ईर्ष्या को सदा के लिये त्याग दो। पृथ्वी की तरह सब कुछ सहन करने की शक्ति अर्जित करो। यदि यह कर सको, तो दुनिया स्वयं ही तुम्हारे चरणों में आ पड़ेगी।[१७]

लोग चाहे जो भी क्यों न सोचें; तुम पवित्रता, नैतिकता तथा भगवत्-प्रेम के अपने आदर्श को कभी नीचे मत उतारना।... ईश्वर से प्रेम करनेवाले को किसी भी इन्द्रजाल से नहीं डरना चाहिये। स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में – सर्वत्र केवल पवित्रता ही सर्वोच्च तथा दिव्यतम शक्ति है।[१८]

मैं उस ईश्वर या धर्म में विश्वास नहीं करता, जो न विधवाओं के आँसू पोंछ सकता है और न अनाथों के मुँह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुँचा सकता है। किसी धर्म के सिद्धान्त चाहे जितने भी उदात्त क्यों न हो, उसका दर्शन चाहे जितना भी सुव्यवस्थित क्यों न हो; जब तक वह ग्रन्थों तथा मतों तक ही सीमित है, मैं उसे 'धर्म' नहीं मानता। हमारी आँखें पीछे नहीं, सामने हैं। सामने बढ़ते रहो और जिसे तुम अपना धर्म कहकर गौरव-बोध करते हो, उसे कार्यरूप में परिणत करो। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें![१९]

वत्स, कोई मनुष्य, कोई जाति, दूसरों से घृणा करते हुए जी नहीं सकती। भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका, जब उसने इस म्लेच्छ शब्द का अविष्कार किया और दूसरों से अपना नाता तोड़ लिया। खबरदार, जो तुमने इस विचार की पुष्टि की! वेदान्त की बातें बघारना तो खूब सरल है, पर इसके छोटे-से-छोटे सिद्धान्त को काम में लाना कितना कठिन है![२०]

जिस संन्यासी में मनुष्यों के कल्याण करने की कोई इच्छा नहीं है; वह संन्यासी नहीं, वह तो पशु है![२१]

लाखों पददलित परिश्रमी गरीबों के हृदय के रक्त से जिनके ऐशो-आराम में लालन-पालन तथा शिक्षा हो रही है और इसके बावजूद जो उनकी ओर ध्यान नहीं देता, उन्हें मैं विश्वासघाती कहता हूँ। इतिहास में कहाँ और किस काल में आपके धनवानों, कुलीनों, पुरोहितों और राजाओं ने गरीबों की ओर ध्यान दिया था – उन गरीबों की ओर, जिन्हें कोल्हू के बैलों की भाँति पेरने से ही उनकी शक्ति संचित हुई थी।[२२]

करोड़ों पिछड़े असहाय लोगों को ऊपर उठाने की किसे चिन्ता है? विश्वविद्यालय के उपाधिधारी कुछ हजार व्यक्तियों से राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता, कुछ धनवानों से राष्ट्र नहीं बनता। यह सच है कि हमारे पास सुअवसर कम हैं; तथापि तीस करोड़ व्यक्तियों को खिलाने और पहनाने के लिये, उन्हें आराम से रखने के लिये, बल्कि उन्हें विलासितापूर्वक रखने के लिये हमारे पास पर्याप्त संसाधन हैं।[२३]

प्रेम और सहानुभूति ही एकमात्र मार्ग है। प्रेम ही एकमात्र उपासना है।[२४]

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता; और जब कभी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा के चलते ऐसा प्रयत्न किया गया है, तो इसका परिणाम उस पृथक् होनेवाले के लिये हमेशा घातक सिद्ध हुआ है।[२५]

लेन-देन ही संसार का नियम है; भारत यदि पुनः उठना चाहे, तो उसके लिये यह परम आवश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर निकाल कर पृथ्वी की जातियों में बिखेर दे; और इसके बदले में वे जो कुछ दे सकें, उसे सहर्ष ग्रहण करे। विस्तार ही जीवन है और संकुचन मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु।[२६]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ४०८; **२**. वही, खण्ड १, पृ. १५१; **३**. वही, खण्ड १, पृ. ३९९; **४**. वही, खण्ड १, पृ. ३९९; **५**. वही, खण्ड २, पृ. ३२१-२२; **६**. वही, खण्ड २, पृ. ३२४; **७**. वही, खण्ड २, पृ. ३५५; **८**. वही, खण्ड २, पृ. ३५६; **९**. वही, खण्ड २, पृ. ३५६; **१०**. वही, खण्ड २, पृ. ३५७-५८; **११**. वही, खण्ड २, पृ. ३८४; **१२**. वही, खण्ड २, पृ. ३९६; **१३**. वही, खण्ड ३, पृ. ३११; **१४**. वही, खण्ड ३, पृ. ३११; **१५**. वही, खण्ड ३, पृ. ३१२; **१६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३१३; **१७**. वही, खण्ड ३, पृ. ३१९-२०; **१८**. वही, खण्ड ५, पृ. ३७१; **१९**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२२-३२३; **२०**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२४; **२१**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२६; **२२**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२९; **२३**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३०; **२४**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३१; **२५**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३१; **२६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३२
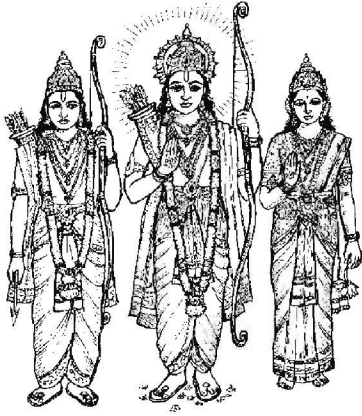
नाम की महिमा (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

– "श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।"

रिषि हित राम सुकेतु-सुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ।। १/२४/३-५

– "श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र मारीच-सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दु:खों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।"

आइये, हम उस भावभूमि पर चलें, जहाँ बैठकर कथा कही जाती है। सरयू के पावन तट पर भगवान श्री राघवेन्द्र की विशाल राज्यसभा है। उसमें कल्पतरु के नीचे सिंहासन पर जनकनन्दिनी सीताजी के साथ जानकी-जीवन श्रीरामभद्र विराजमान हैं। पीछे श्रीभरत छत्र लिए खड़े हैं, दाहिनी ओर लक्ष्मणजी धनुष-बाण लिए हुए हैं और बायीं ओर शत्रुघ्नजी के हाथ में चँवर है। हनुमानजी सामने हैं और सभी अयोध्या के नागरिक, ऋषि-मुनि तथा हम सभी उस सभा में बैठे हुए हैं। वहीं यह दिव्य उत्सव मनाया जा रहा है। वहाँ वक्ता के रूप में जो व्यक्ति बैठा हुआ है, वह तो एक यंत्र है, प्रभु ही उसके माध्यम से नाम की महिमा प्रगट कर रहे हैं और श्रोता के हृदय में श्रद्धा जगाकर, उसे सुनने तथा ग्रहण करने की क्षमता दे रहे हैं। आप मौन रहकर मेरे साथ इसी भाव की झाँकी में स्वयं को सन्निविष्ट करें। अब तक यही विचार चलता रहा कि भगवन्नाम के द्वारा हमारे अन्त:करण में कैसे परिवर्तन होना चाहिए और उसकी प्रक्रिया क्या है?

आइये, अब हम मारीच के माध्यम से मन की समस्या का समाधान पाने की चेष्टा करें। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति का मन ही मारीच है, जो यज्ञ को विनष्ट करने वाला है। अब नाम-जप की साधना का उद्देश्य क्या है? व्यक्ति यदि सही अर्थों में भगवन्नाम का आश्रय ले, तो मन की बुराइयाँ कैसे दूर होती है और अन्त में मन भगवन्नाम के द्वारा कैसे भगवान के साथ एकाकार हो जाता है – इसका बड़ा ही सूक्ष्म संकेत मारीच के प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। सबसे पहले मारीच के मन में भय की सृष्टि की गई। वह भय भगवान के बाण का है। साधन-प्रक्रिया में हमारे मन में प्रभु के ऐश्वर्य तथा काल की स्मृति आनी चाहिए। जब व्यक्ति के मन में मृत्यु का भय उपस्थित हो जाता है, तब उसके सारे चिन्तन समाप्त हो सकते हैं, होना ही चाहिए; ठीक वैसे ही भगवान का बाण लगने पर मारीच भयभीत होकर सर्वत्र प्रभु का ही दर्शन करने लगता है।

दूसरी ओर रावण है, जो मारीच पर अपना अधिकार मानता है। रावण ने सीताजी को पाने का विचार किया और उसे लगा कि सीताजी को पाने का मार्ग यही है कि मैं मारीच का उपयोग करूँ, मारीच स्वर्ण-मृग का रूप बना ले; उस स्वर्ण-मृग को देखकर जनकनन्दिनी सीता के मन में उसे पाने की इच्छा का उदय हो और इस प्रकार श्रीराम को सीताजी से दूर करके, कपट-मृग के आश्रय से उनको पा लूँ।

सीताजी शान्ति की प्रतीक हैं और रावण ही मोहमयी प्रवृत्ति है। वह जीवन में शान्ति पाना तो चाहता है, पर उसे शान्ति पाने का सही मार्ग ज्ञात नहीं है। वह मारीच-रूपी मन का उपयोग करता है। मन में वेश बदलने की बड़ी अद्भुत कला है। लंका के सभी राक्षस आकृति-परिवर्तन की कला में निपुण थे, परन्तु मारीच ही इस कला में सर्वाधिक निपुण था। यही सत्य हमारे जीवन का भी है। मारीच बहुरूपिया है, चाहे जैसा रूप बना लेता है और यही मन की प्रकृति है। व्यक्ति मन के इस बहुरूपिये-पन का आश्रय लेकर, वेश-बदलने की कला का प्रयोग करके सीताजी रूपी शान्ति के हरण का प्रयास करता है। यही समाज का और हमारे आपके जीवन का भी सत्य है। हमारा मन वेश बदलने की कला में अत्यन्त निपुण है और हम इस कौशल से बहुधा संसार के व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है।

बंचक बिषय बिबिध तनु धरि
अनुभवे सुने अरु डीठे ।। विनय., १६९/२

इस विषय में लोगों की वृत्ति भी इसी भ्रान्ति से परिपूर्ण है। क्योंकि संसार में अधिकांश लोग वास्तविकता की पूजा

नहीं करते हैं; वे बनावटी आकृतियों तथा बनावटी मुखौटों की पूजा करते हैं। वास्तविकता की नहीं, अपितु दम्भ की पूजा ही मनुष्य की प्रवृत्ति है। दम्भ का आश्रय लेनेवाला बड़ी सरलता से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

परन्तु भगवान को रिझाने की कला क्या है? जैसे संसार के व्यवहार में कई लोग नकली वेश बनाकर, छल-कपट का आश्रय लेकर बहुधा सफल हो जाते हैं, क्या भगवान के सन्दर्भ में भी यह सम्भव है? भगवान की तो स्पष्ट घोषणा है – मुझे तो निर्मल मनवाला व्यक्ति ही पाता है। मुझे छल-कपट और छिद्र बिलकुल भी अच्छा नहीं लगता –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। ५/४४/५

ऐसे संसार में करें, तो क्या करें? इस द्वन्द्वमयी स्थिति को देखकर कभी-कभी तो कवि व्याकुल हो जाता है। हमारे प्रसिद्ध कवि रहीम ने एक बड़ा ही व्यावहारिक दोहा लिखा। इस कठिनाई का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा –

अब रहीम मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम।।

अपनी वास्तविकता को यदि हम दूसरों के सामने प्रगट कर दें, तो संसार के लोग हमारा सम्मान नहीं करेंगे, हमारी पूजा नहीं करेंगे; बल्कि उलटे हमें घृणा की दृष्टि से देखेंगे। अत: यदि हमें उनका सम्मान पाना है, तो हमें वेश बनाने की कला में निपुण होना चाहिए। परन्तु ईश्वर कहता है कि मुझे पाने के लिए तो निर्मल मन की आवश्यकता है।

संसार में तो जो व्यक्ति अपने मन की वास्तविकता को दूसरे से छिपाने में जितना निपुण है, वह उतना ही व्यवहार-पारंगत है। पग-पग पर ऐसी स्थिति आती है कि कोई व्यक्ति प्रिय नहीं लग रहा है, या किसी की बात अच्छी नहीं लग रही है, लेकिन यदि कह दिया जाय कि यह तुम क्या बकवास कर रहे हो, तो सामनेवाला रुष्ट हो जायेगा। परन्तु यदि वह अपने मन की बात को छिपाकर, कहे कि आपने तो क्या बढ़िया बात कही है, मुझे तो बड़ा आनन्द आ रहा है, तो सामनेवाला व्यक्ति उससे प्रभावित हो जाता है।

इस प्रकार संसारवाले नकली मन तथा नकली वेश की पूजा करते हैं और भगवान को तो निर्मल मन ही पसन्द हैं।

रामायण के दो मृगों के सन्दर्भ में भी यह संकेत दिखाई देगा, केवल प्रक्रिया में भेद है। एक मृग तो हनुमानजी हैं; वे भी जब श्रीराम से मिलने के लिए आते हैं, तो नकली वेश में ही आते हैं। दूसरी ओर मारीच भी जब सीताजी के सामने आता है, तो नकली वेश बनाकर ही आता है। परन्तु उनमें एक सूत्र समान रूप से मिलेगा कि अन्त में दोनों ने ही नकली रूप का परित्याग कर दिया – हनुमानजी ने भी।

यद्यपि हनुमानजी के अन्त:करण में नकली वेश के द्वारा धोखा देने की वृत्ति नहीं थी। वस्तुत: ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए सुग्रीव ने भगवान श्रीराम और लक्ष्मणजी को आते देखा, तो उनके अन्त:करण में यह भय उत्पन्न हुआ कि ये जो दो योद्धा आते दिख रहे हैं, इन्हें सम्भवत: बालि ने भेजा है। क्योंकि बालि मेरी मृत्यु का इच्छुक है और इस पर्वत पर वह स्वयं तो आ नहीं सकता, अत: लगता है कि वह दूसरों के द्वारा अपना कार्य सम्पन्न कराना चाहता है और इसीलिये शायद ये दोनों योद्धा इधर आ रहे हैं। सुग्रीव भयभीत होकर हनुमानजी से कहते हैं – और वही कहते हैं जो संसारी प्रकृति है – नकली वेश में जाइये। क्योंकि वे सोचते हैं कि यदि हनुमानजी अपने वास्तविक वेश में जायेंगे, तो वे योद्धा कहीं इन्हीं पर प्रहार करके इनका वध न कर दें। वे स्वयं हनुमानजी से कहते हैं – आप ब्राह्मण का वेश बनाकर जाइए और उनके रहस्य का पता लगाइए। यदि वे बालि के भेजे हुए हों, तो आप संकेत कर दीजिएगा और मैं यहाँ से भाग निकलूंगा, क्योंकि मुझमें संघर्ष करने की बिलकुल भी क्षमता नहीं है। मेरे लिये तो केवल भागना ही सम्भव है –

धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई।। ४/१/४

हनुमानजी सुग्रीव की सम्मति स्वीकार करके ब्राह्मण वेश में ही जाते हैं। यों तो कपट-वृत्ति में ब्राह्मण का वेश बनाना कपट ही है, परन्तु यहाँ कपट का उद्देश्य वह नहीं है, जो बहुधा संसार के लोगों का हुआ करता है। वस्तुत: वे तो उनका रहस्य जानने के लिए सुग्रीव के कथनानुसार एक वेश बनाकर जाते हैं। प्रभु और ब्राह्मण-वेशधारी हनुमानजी के बीच बड़ा विलक्षण वार्तालाप हुआ। हनुमानजी ने जब प्रभु से पूछा – "क्या आप सृष्टि के कारण – साक्षात् ब्रह्म हैं? क्या आप पृथ्वी का भार उतारने को अवतरित हुए हैं?"

इस पर भगवान श्रीराम ने हनुमानजी को अपना पारमार्थिक नहीं, लौकिक परिचय दिया, क्योंकि भगवान की प्रतिज्ञा है –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।। ४/११

जब हम ईश्वर के समक्ष अपने को स्वयं छिपाने की चेष्टा करते हैं, तो ईश्वर के पास तो माया-शक्ति विद्यमान ही है। और इस माया से बढ़कर कोई आवरण नहीं है। कई प्रसंगों में सांकेतिक कथा आती है। कालयवन और दुर्योधन के प्रसंगों में भी ऐसी कथा आई है।

कालयवन जब मथुरा में भगवान कृष्ण पर आक्रमण करता है, तो वे भागते हैं और कालयवन उनका पीछा करता है। वह पुकार-पुकार कर हँसता है – "अरे, तुम कैसे डरपोक हो कि भागे जा रहे हो?" ईश्वर बड़ा कौतुकी है। वह सर्व-शक्तिमान होते हुए भी असमर्थता का नाटक करने में अत्यन्त निपुण है। भगवान भागकर कहाँ गये?

मुचुकुन्द नामक एक राजा थे, जिन्होंने निद्रा का वरदान माँग रखा था और वे एक गुफा में सो रहे थे। भगवान उसी गुफा में प्रविष्ट हो गये और उसमें प्रविष्ट होकर उन्होंने एक अनोखा कार्य किया। मुचुकुन्द राजा को यह वरदान प्राप्त था कि यदि कोई उन्हें निद्रा से जगाने की चेष्टा करेगा, तो उनकी दृष्टि खुलते ही वह भस्म हो जायगा। भगवान बड़े कुशल हैं। उन्होंने उसी विधान को क्रियान्वित करने के लिए चाहा कि मुचुकुन्द के द्वारा ही कालयवन की मृत्यु हो। उन्होंने एक अनोखा कौतुक किया। गुफा में अँधेरा था। भगवान स्वयं तो अँधेरे में छिप गये, परन्तु अपने ओढ़ने के पीताम्बर से उन्होंने राजा मुचुकुन्द को पूरी तरह से ढक दिया। जब कालयवन आया, तो उसने पीताम्बर को ही ईश्वर मान लिया। यह एक संकेत है। पीताम्बर स्वयं ईश्वर नहीं है, वह तो वस्तुत: आवरण है। ईश्वर जब चाहे, उसे धारण करता है और जब चाहे, उतार देता है। लेकिन आसुरी वृत्तिवाले माया को ही महत्त्व देते हैं। उसी दृष्टि से श्रीकृष्ण को पहचानने की चेष्टा करते हैं। इसीलिए कलयवन ने आते ही सोचा – ''अच्छा ! तो यहाँ गुफा में छिपकर सोने स्वांग कर रहा है !'' और जोर-से एक लात जमा दी। जैसे ही राजा मुचुकुन्द की छाती पर लात पड़ी, उन्होंने पीताम्बर हटाया और मुचुकुन्द की दृष्टि पड़ते ही कालयवन भस्म हो गया। तब भगवान मुस्कुराते हुए मुचुकुन्द को दर्शन देते हैं। इस कथा का तात्त्विक पक्ष यही है कि एक ओर मुचुकुन्द है और दूसरी ओर कालयवन है। दोनों की वृत्ति में अन्तर यह है कि मुचुकुन्द प्रगाढ़ निद्रा का आश्रय लिये निश्चिन्त सो रहे हैं। जिस प्रगाढ़ निद्रा में वे सो रहे हैं, वह वस्तुत: योगी की निद्रा है, जिसका वर्णन करते हुए विनय-पत्रिका में कहा गया है

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी ।।

विलक्षण निद्रा, निश्चिन्तता की निन्द्रा – इसमें बहिरंग जागरण की कोई अपेक्षा नहीं है। एक ओर कालयवन भगवान को देखकर भी अन्त में मुचुकुन्द के द्वारा विनष्ट हो जाता है; और दूसरी ओर मुचुकुन्द के सौभाग्य की पराकाष्ठा यह है कि जब उन्होंने पीताम्बर हटाकर देखा तो कालयवन भस्म हो गया और मुस्कुराते हुए भगवान सामने आ गये। उनकी कैसी विलक्षण निद्रा और कैसा विलक्षण जागरण है ! दूसरी ओर आसुरी वृत्ति का व्यक्ति पीताम्बर के आवरण के कारण जो ईश्वर को पहचानने में अक्षम हो जाता है।

यही संकेत दुर्योधन के सन्दर्भ में भी मिलता है। जब वह कौरवों की ओर से भगवान को निमंत्रित करने के लिए जाता है, तो दुर्योधन अर्जुन से भी पहले पहुँच जाता है। लेकिन दुर्योधन ने जब रथ से उतरकर सेवकों से पूछा कि कृष्ण कहाँ हैं, तो उत्तर मिला – सो रहे हैं। हड़बड़ी में वह भीतर घुसा। वहाँ भगवान सोये हुए हैं, पर अपने को पीताम्बर से ढके हुए सोये हैं। वही संकेत सूत्र है। दुर्योधन भगवान का एक रूप देखता है, जो पीताम्बर से आवृत्त है; और यह सोचकर बैठ जाता है कि जब उठेंगे, तो मैं इन्हें निमंत्रण दूँगा। और जब अर्जुन आते हैं, तो वे भगवान के चरणों के निकट बैठते हैं। दोनों ईश्वर के समीप हैं। यही सत्य है। दुर्योधन भी ईश्वर के निकट है और अर्जुन भी ईश्वर के निकट हैं। तमोगुणी या मोह से ग्रस्त, मोहासक्त, मोहान्ध वृत्ति वाला व्यक्ति भी ईश्वर के समीप है; और अर्जुन के समान जो जिज्ञासु है, वह भी ईश्वर के समीप है। बहिरंग दृष्टि से, कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि दुर्योधन में ही गति की तीव्रता है। लेकिन फिर वही तत्त्व – भगवान अपने को निरावृत नहीं करते। अर्जुन आकर जैसे ही भगवान के चरणों के पास पलंग पर बैठते हैं, पीताम्बर ओढ़कर सोये हुए भगवान तुरन्त पीताम्बर हटाकर उठे और अर्जुन से पूछ दिया – कब आए। सिरहाने बैठे हुए दुर्योधन ने कहा – इधर देखिए, पहले मैं आया हूँ।

भगवान मुस्कराते हुए बोले – ''बड़ा संकट है। आये तो तुम पहले और देखा मैंने इन्हें पहले। अब इससे बढ़कर विडम्बना क्या होगी? पहले आने की सार्थकता ही क्या है, यदि भगवान की दृष्टि हमारे ऊपर न पड़े। भगवान जब दृष्टि मूँदे हुए पड़े हों; ऐसे सोये हुए ईश्वर, जिनकी दृष्टि हम पर न हो, ऐसे ईश्वर को पाकर भी व्यक्ति धन्य नहीं होता। मस्तक की ओर बैठने में अभिमान की वृत्ति है और चरणों में आश्रय अर्थात् निरभिमानतापूर्वक भगवान को पाने की इच्छा। जब कोई अर्जुन के समान जिज्ञासु या भक्त निरभिमानता की वृत्ति लेकर भगवान के चरणों का आश्रय लेता है; और प्रभु उसे देखते हैं, तो पहले उसी से पूछते हैं – तुम क्या चाहते हो?

हमारे एक प्रज्ञाचक्षु महात्मा थे – स्वामी शरणानन्दजी। वे प्रश्नोतर की कला में निपुण थे। उनमें उत्तर देने की अद्वितीय कला थी। कभी-कभी वे सांकेतिक भाषा में जो बातें कहते, वे बड़े महत्त्व की होती थीं। वे वृन्दावन गये। लोग बिहारीजी का दर्शन करने जा रहे थे, तो वे बोले – मैं भी चलूंगा। लोग उन्हें लेकर पहुँच गये। परन्तु किसी ने व्यंग्य भरे शब्दों में पूछ दिया – ''हम लोग दर्शन करने आए हैं। हमारी तो आँखें हैं, परन्तु आपकी तो आँखें ही नहीं हैं ! आप उनका दर्शन कैसे करेंगे?'' उन्होंने कहा – ''ठीक है, मेरे पास आँखें नहीं हैं, पर हम जिनके पास आए हैं, उनके पास तो आँख हैं न ! आप लोगों के पास आँखें हैं, तो आप लोग उनको देख लीजिएगा और मेरे पास आँखें नहीं हैं, तो वे मुझे देख लेंगे। इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं है।''

तात्पर्य यह कि जिन्हें अपनी असमर्थता का भान है और जो प्रभु के समक्ष अपने आपको – वह जैसा है, उसी रूप में प्रस्तुत कर देता है, उसे प्रभु की कृपादृष्टि पहले मिलती है।

रामायण में उत्तरकाण्ड में जब सनक, सनन्दन, सनातन,

सनत्कुमार चारों मुनि भगवान से मिलने आते हैं, तो भगवान उनके बैठने के लिए अपना पीताम्बर बिछा देते हैं –

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह ।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह ।। ६/३२

इसका भी सांकेतिक अर्थ था – ये जो चारों महापुरुष नग्न रहते हैं, आवरणरहित हैं और सर्वदा बालक की स्थिति में ही रहते हैं। बालक में सरलता है और बालक निरावरण भी रह लेता है। उसे निरावृत्त देखकर किसी के मन में अश्लीलता की वृत्ति नहीं आती। उसके अन्तर्मन में किसी दुराव की भी वृत्ति नहीं है। मुनिगण जब निरावृत आते हैं, तो भगवान भी अपना पीताम्बर हटाकर निरावृत रूप में दर्शन देते हैं। मानो कहते हैं कि आवरण तो दूर हो ही गया, अब यह आवरण ही आपका आसन है। इसी माया पर आरूढ़ होकर आप मुझे देखें, अब आपके और मेरे बीच रंचमात्र व्यवधान नहीं है।

हनुमानजी ब्राह्मण जैसा वेश बनाकर गये थे, अत: एक आवरण, एक दूरी बनी रही। हनुमानजी ने परिचय पूछा, तो प्रभु ने अपना पारमार्थिक नहीं, भौतिक परिचय दिया। बोले – यहाँ वन में राक्षस ने मेरी पत्नी को हर लिया। हम उसी को ढूँढ़ते फिर रहे हैं। हे ब्राह्मण ! हमने अपना चरित्र कहकर सुना दिया, अब आप अपनी कथा समझाकर कहिए –

आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।। ४/०१/४

बड़ा अनोखा संवाद हुआ। परन्तु हनुमानजी की पहली दृष्टि में बात छिपी नहीं रही, उन्होंने ईश्वर को पहचान लिया और उनके चरणों को पकड़ लिया। प्रभु के होठों पर हँसी आ गई। हँसी में मानो व्यंग्य यह था – "ब्राह्मण का वेश तो बना लिया पर नाटक का ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सके। अब ब्राह्मण बनकर आए थे तो क्षत्रिय से प्रणाम की आशा रखनी चाहिए थी, स्वयं क्यों प्रणाम कर दिया?" हनुमानजी ने कहा – प्रभो, यदि मेरे नाटक में कमी है, तो आपका नाटक भी तो वैसा ही हुआ। – कैसे? बोले – "आप भी यदि मुझे ब्राह्मण मानते, तो मुझे प्रणाम करते ! मैंने यदि अपने नाटक में असफल होकर आपको प्रणाम किया, तो बताइये – क्षत्रिय तो ब्राह्मण को देखकर प्रणाम करता है और आपने जब क्षत्रिय वेश बना रखा था, तो भी आपने मुझसे बड़ा अनोखा व्यवहार किया। मैंने प्रणाम किया, तो आप आशीर्वाद देते, तो भी वह मर्यादा की परम्परा का निर्वाह होता। क्योंकि कोई प्रणाम करे, तो बदले में आशीर्वाद देना चाहिए। अथवा आप जातिगत मर्यादा की दृष्टि से स्वयं प्रणाम करते, पर आपने न तो आशीर्वाद दिया और न प्रणाम ही किया। तो आपकी लीला में कोई रहस्य रहा होगा।"

प्रभु ने कहा – हनुमान, मैं बड़े संकट में पड़ गया हूँ। – क्या? – "जब तुम आये, तो यदि मुझे निश्चय हो जाता कि तुम ब्राह्मण हो, तो मैं तुम्हें अवश्य प्रणाम करता। लेकिन मैं जानता था कि भीतर से तो यह हनुमान है, बाहर से नकली वेश बनाए हुए है, ब्राह्मण बना हुआ है। इस दोहरे वेश में – यदि हनुमान मानूँ, तो आशीर्वाद देना चाहिए और ब्राह्मण मानूँ, तो प्रणाम करना चाहिए। मैं बड़ी द्विविधा में हूँ – प्रणाम करूँ या आशीर्वाद दूँ? यदि प्रणाम करूँ, तो हनुमान के रूप में तुम भीतर विद्यमान हो, तुम्हें कष्ट होगा। और यदि आशीर्वाद दे दूँ, तो लौकिक रूप में मैंने जो क्षत्रिय शरीर स्वीकार किया है, उसकी मर्यादा नहीं रहती।"

अस्तु। प्रभु ने अपनी सर्वज्ञता को किनारे रखकर हनुमानजी से कहा – ब्राह्मण देवता, आप अपनी कथा सुनाइए। हनुमानजी अपना परिचय देते हैं – एक तो मैं यों ही मन्द हूँ, मोह के वश में हूँ, हृदय का कुटिल और अज्ञानी हूँ –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ।। ४/२

प्रभु ने हनुमानजी से पूछा – ब्राह्मण देवता, इन चारों विकारों में से सबसे अधिक दुखी आप किस विकार से हैं? हनुमानजी बोले – प्रभो, आपने जो पूछ दिया कि ब्राह्मण देवता, आप कौन हैं – इस प्रश्न से मुझे जितना कष्ट हुआ, उतना कष्ट किसी अन्य कारण से नहीं हुआ। – क्यों? – क्योंकि इसका अर्थ है कि आप मुझे भूल गये।

कोई पुराना परिचित होता है, तो यह आशा रखता है कि सामनेवाले व्यक्ति जब मिलें, तो उसे पहचान ले। मैं तो कभी-कभी संकट में बड़े पड़ जाता हूँ। हर जगह जाता हूँ, तो लोग मिलते हैं। वे जब सामने आते हैं, तो देखकर लगता है कि कहीं देखा है। पर कब और कहाँ देखा – इसकी याद पूरी तरह नहीं आती। कोई-कोई तो पूछ ही देते हैं – आपने मुझे पहचाना? अब अगर उनके सन्तोष के लिए यदि मैं कह दूँ – हाँ, पहचान रहा हूँ। तो तुरन्त पूछ देते हैं – अच्छा, मेरा नाम बताइए। इसके बाद तो मैं पूरी तौर से अपनी कमी बता देता हूँ कि आपकी आकृति तो पहचानी हुई लग रही है, पर आपका नाम भूल गया हूँ।

जीव की यह बाध्यता है। जीव तो भूल ही सकता है, यह उसकी बाध्यता है, उसकी सीमाएँ हैं, परन्तु यदि ईश्वर ही जीव को भुला दें, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य क्या होगा? हनुमानजी ने उलाहना दिया, सब कुछ किया, परन्तु उनके और प्रभु के बीच की दूरी कब मिटी? हनुमानजी जब तक ब्राह्मण बने रहे, तब तक प्रभु और उनके बीच दूरी बनी रही। परन्तु ज्योंही उन्होंने ब्राह्मण शरीर को त्याग दिया और अपना असली शरीर प्रकट कर दिया, त्योंही रघुनाथजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया –

अस कहि परेउ चरन अकुलाई ।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ।।
तब रघुपति उठाई उर लावा ।। ४/३/५-६

प्रभु ने हनुमानजी को उठाकर हृदय से भी लगाया, और उनका नाम लेकर भी पुकारा – प्रभु ने ये दोनों कार्य किये।

रामायण में बार-बार कहा गया है कि भगवान को ब्राह्मण बड़े प्रिय हैं। प्रभु ने अनेक प्रसंगों में यह बात कही। कभी-कभी लोगों को यह बात अप्रिय भी लगती है, अनुचित भी प्रतीत होती है, परन्तु यहाँ भगवान का बड़ा सार्थक संकेत है और वह संकेत ही यह सिद्ध करता है कि यदि जाति के रूप में भगवान महत्त्व देते होते, तब तो वे हनुमानजी को ब्राह्मण -रूप में देखकर या तो तत्काल उन्हें प्रणाम करके सम्मान देते या फिर हृदय से लगाकर भक्त के रूप में उन्हें आशीर्वाद देते। परन्तु भगवान ने मानो बता दिया कि ब्राह्मण, ब्राह्मण के वेष में मुझे पा ले; परन्तु जो कपि है, वह यदि ब्राह्मण बनकर मुझे पाने की चेष्टा करेगा, तो हमारे और उसके बीच में दूरी और व्यवधान बना रहेगा। यदि कोई अपने ऊपर ब्राह्मणत्व का नकली आवरण ओढ़ लेगा, तो मैं भी अपनी माया का आवरण लेकर उससे दूरी बनाए रखूँगा।

इसके बाद प्रभु ने स्पष्ट रूप से हनुमानजी का नाम लेकर कहा – हनुमान, यह सारा संसार मेरे प्रभु का ही रूप है – ऐसा मानकर जो सबकी सेवा करे, वही मेरा अनन्य भक्त है –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।। ४/३

हनुमानजी के मन में जो आवरण है, वह छल या कपट की वृत्ति से नहीं, अपितु भगवान का रहस्य जानने की वृत्ति से है। तो भी, जब तक उन्होंने स्वेच्छा से स्वयं ही अपना आवरण दूर नहीं किया, तब तक उनका प्रभु से मिलन नहीं हुआ। दोनों प्रकार के मन के बीच सूक्ष्म अन्तर यह है कि एक पद्धति है – स्वयं अपने विवेक से अपने मन के दोषों को – आवरण को दूर कर देना। इस मन में तो आत्म-निरीक्षण की क्षमता है। हनुमानजी विचार करने लगे कि मैंने प्रभु को उलाहना दे दिया, परन्तु वे निष्ठुर नहीं हो सकते, मुझमें ही कोई-न-कोई कमी होगी। और जब उन्हें लगा कि यह ब्राह्मणत्व ही हमें प्रभु से दूर बनाये हुए है, तो वे स्वेच्छा से ही कपट छोड़ देते हैं, स्वेच्छा से अपने आवरण को दूर कर देते हैं। यदि हम स्वेच्छा से अपने मन के आवरण को दूर कर सकें, तो बड़ी अच्छी बात है। मन में आवरण के रूप में कोई वृत्ति आ भी जाय और यदि हमारे अन्तराल में हनुमानजी के समान निश्छल मन है, तो हम प्रभु को प्राप्त कर लेंगे। परन्तु हमारा मन तो मारीच के जैसा है, जिसके आवरण को दूर करने के लिए भगवान को बाण का प्रयोग करना पड़ा। मारीच जब तक मायामृग के रूप में रहा, तब तक तो उस पर प्रहार ही हुआ, पर ज्योंही वह स्वर्णमृग का शरीर छोड़कर अपने वास्तविक राक्षस के रूप में आ गया, त्योंही भगवान उसे स्वयं में मिलाकर एकाकार कर लेते हैं।

बड़ा सुन्दर संकेत है – मन यदि बन्दर जैसा ही नहीं, बल्कि यदि राक्षस जैसा मन भी है, तो भगवान उसे भी अपना लेने के लिए, अपने में मिला लेने के लिए तैयार हैं। लेकिन वे कहते हैं कि मेरी शर्त है – मुझे छल-कपट अच्छा नहीं लगता, निर्मल मन का मनुष्य ही मुझे पाता है –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।। ५/४४/५

इसलिये तुम जैसे भी हो, अपने आपको मेरे सामने प्रगट कर दो। पर क्या यह सबके लिए सरल है? मारीच का आवरण दूर करने के लिए स्वयं ईश्वर को इतना कठिन प्रयास करना पड़ा। ईश्वर ने कम-से-कम नाटक में जो दिखाया, वह यही था कि यहाँ तो प्रहार करना पड़ता है – बाण का, काल का, मृत्यु का प्रहार; और उस प्रहार के द्वारा ईश्वर ने मारीच का आवरण नष्ट कर दिया। ज्योंही आवरण नष्ट हुआ, ज्योंही बाह्य छल और कपट का आवरण छूटा, मारीच भगवान से मिलकर एकाकार हो जाता है।

मन की समस्या यह है कि रावण-रूपी मोह की वृत्ति हमें छल और कपट की दिशा में प्रेरित करती है। हम उसके अभ्यस्त हैं, उस कला में निपुण हैं। रावण चाहता है कि मारीच उसकी इच्छा के अनुकूल स्वर्णमृग बने, सीताजी को भ्रम हो और राम मृग के पीछे भागें और मैं सीताजी का हरण करने में सफल हो जाऊँ। रावण का मार्ग बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था। परन्तु रावण रूपी मोह के विनाश की प्रक्रिया तो सबसे अन्त में होती है। पहले तो रावण ने जब मारीच के समक्ष प्रस्ताव रखा – तुम छल करनेवाले कपट-मृग बनो और इस उपाय का आश्रय लेकर मैं उस राजवधू को हर लाऊँगा –

होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी ।
जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी ।। ३/२५/२

मारीच को एक बार भगवान के बाण तथा उनकी सामर्थ्य का अनुभव हो चुका है, इसलिए वह रावण को समझाने की चेष्टा करता है। वह रावण को स्मरण दिलाता है – जिसने ताड़का और सुबाहु को मारकर शिवजी का धनुष तोड़ दिया और खर, दूषण और त्रिशिरा का वध कर डाला, ऐसा प्रचंड बली भी कहीं मनुष्य हो सकता है? –

जेहिं ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड ।
खर दूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड ।।३/२५

– हे तात! यदि वे मनुष्य हैं, तो भी बड़े शूर-वीर हैं। उनसे विरोध करने में अपना कोई लाभ नहीं होगा –

जौं नर तात तदपि अति सूरा ।
तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा ।। ३/२५/८

मेरा अनुभव तो सुन लो – यही राजकुमार मुनि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए गए थे। मैं उसमें बाधा डालने गया था, तो उन्होंने बिना फल के बाण से मुझ पर प्रहार किया और उससे मैं सौ योजन दूर आकर गिरा, अत: उनसे बैर करने में आपका कल्याण नहीं होगा –

मुनि मख राखन गयउ कुमारा ।
बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ।। ३/२५/५

मारीच के मन में ईश्वर की महिमा का बोध हुआ था, वह उसे मोह-रूपी रावण को सुनाने और समझाने की चेष्टा करता है। कई बार ऐसा होता है कि हम जिस बुराई का अनुभव कर चुके है, उससे बचकर भगवान की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। यदि कभी भगवान के सामीप्य का अनुभव हुआ है, तो उस दिशा की बात हम दूसरों को भी बताने की चेष्टा करते हैं। पर रावण की वृत्ति क्या है? वह जब आया, तो आते ही उसने मारीच को प्रणाम कर दिया था। शंकरजी ने पार्वतीजी के समक्ष जब इसका वर्णन किया, तो पार्वतीजी ने कहा – "चलिये, आपका शिष्य विनम्र तो है ही, क्योंकि चक्रवर्ती सम्राट होते हुए भी वह अपने मामा को प्रणाम कर रहा है।" शंकरजी बोले – "बिलकुल नहीं, बल्कि न प्रणाम करता तो ज्यादा अच्छा था।" – क्यों? उन्होंने कहा – नीच का विनम्रता भी अति दु:खदाई होती है। जैसे अंकुश, धनुष, साँप और बिल्ली का झुकना। दुष्ट की मीठी वाणी भी वैसे ही भयदायक होती है, जैसे बिना ऋतु के फूल –

नवनि नीच कै अति दुखदाई ।
जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।।
भयदायक खल कै प्रिय बानी ।
जिमि अकाल के कुसुम भवानी ।। ३/२४/७-८

दुष्ट व्यक्ति न झुके, तो दुखदाई होता है और झुक जाय, तब तो अति दुखदाई होता है। नहीं नवे, तो लगेगा कि आ रहा है, इसका कुछ-न-कुछ बुरा लक्ष्य होगा, तो सावधान हो जायेंगे। परन्तु यदि आते ही लम्बा प्रणाम करे, तो लगेगा कि यह तो बड़ा अच्छा हो गया; और हम असावधान हो जायेंगे। शंकरजी बोले – यह तो बहुत बुरा हो गया। मारीच प्रभावित हो गया। शास्त्रों में कहा गया है कि बिना प्रणाम किए यदि कोई कुछ पूछे, तो उसे उत्तर नहीं देना चाहिए –

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः ।।

यदि न पूछे, तो भी बिना मतलब अपनी बात नहीं लादनी चाहिए; और पूछने वाला यदि नियम का पालन न करे, तो भी नहीं बोलना चाहिये। गीता में यही नियम बताया गया है – प्रणाम, प्रश्न तथा सेवा के द्वारा तत्त्व को जानो –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।। ४/३४

प्रश्न करने से पहले प्रणाम। रावण ने आते ही पहले मारीच को प्रणाम किया, तो लगा कि यह तो पक्का जिज्ञासु है कि आते ही प्रणाम कर रहा है। परन्तु जिज्ञासु तो यह जानना चाहता है कि सत्य क्या है और मुझे क्या करना चाहिए, और इधर रावण यह बताने के लिए आया है कि मारीच को क्या करना चाहिए। रावण पहले से ही सोचकर आया है कि मारीच को क्या करना है। आकर प्रणाम तो शिष्य के समान किया, पर बोल ऐसे रहा है जैसे गुरु शिष्य को उपदेश देता है, आदेश देता है। रावण को प्रणाम करते देखकर मारीच ने सोचा कि जब इन्होंने विनम्रता से प्रणाम किया है, तो इन्हें सत्य का उपदेश देना चाहिए। परन्तु जब उपदेश दिया, तो रावण अपने असली रूप में आ गया। बोला – मैंने तुम्हें प्रणाम कर दिया, तो शायद तुम्हें धोखा हो गया है कि मैंने तुम्हें गुरु बना लिया है। अरे, मैंने प्रणाम तुम्हारी योग्यता देखकर नहीं, बल्कि अपनी कृपा के कारण किया है। कई लोग कृपा करके ही प्रणाम करते हैं।

प्रणाम और आशीर्वाद – उनका सही अर्थ यह है कि जिनको प्रणाम किया जा रहा है, वे यदि प्रणाम का यह अर्थ ले लें कि हम बड़े हैं, इसलिए प्रणाम किया जा रहा है, तो उन्हें मारीच के समान ही धोखा खाना होगा। दूसरी ओर यदि प्रणाम करनेवाला यह माने कि यह तो हमारी कृपा है कि हम इन्हें बड़प्पन दे रहे हैं, तो वह भी अभिमान से ग्रस्त होगा।

रावण तत्काल बोल उठा – बता तो संसार में मेरे समान योद्धा दूसरा कौन है? –

कहु जग मोहि समान को जोधा ।। ३/२६/२

उसने तलवार निकाल ली – आगे एक शब्द भी कहा, तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा। अब मन के समक्ष बड़ी कठिन समस्या है। वह छल-कपट नहीं करना चाहता, परन्तु मोह प्रेरित कर रहा है – मैं जो कह रहा हूँ, वही करना होगा।

❖ (क्रमशः) ❖
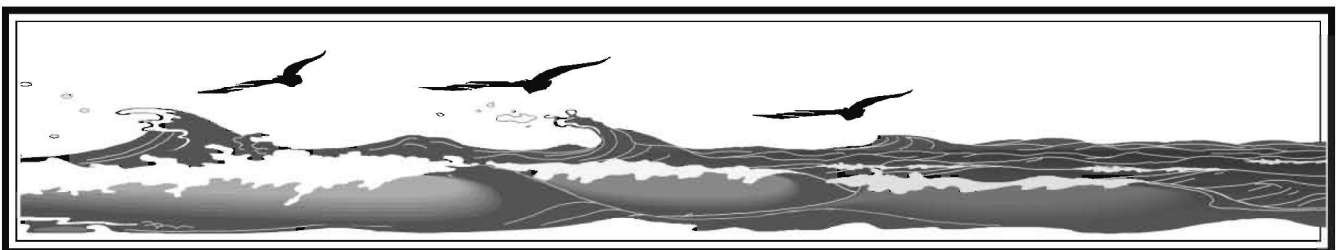
आत्माराम के संस्मरण (२५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

पहाड़ चम्बा

पठानकोट के बाद संन्यासी डलहौजी और वहाँ से गरमी बिताने हेतु चम्बा गया। पठानकोट आर्यसमाज के अध्यक्ष ने डलहौजी आर्यसमाज के अध्यक्ष को पत्र लिखकर संन्यासी के निवास की व्यवस्था कर देने का अनुरोध किया था। संन्यासी को एक राजस्थानी व्यवसायी के ट्रक में जगह मिल गयी। अपराह्न में निकलकर रात मार्ग में एक जगह बिताने के बाद अगले दिन पूर्वाह्न के करीब ११ बजे वहाँ पहुँचा।

आर्य-समाज के अध्यक्ष हॉल की चाभी देते हुए बोले – "आसन लगा लीजिये। अभी विशेष कार्य में व्यस्त हूँ, रात में भेंट होगी।" हॉल में धूल भरी हुई थी। वे लोग हर सप्ताह हवन करते हैं, तभी थोड़ी-बहुत सफाई हो जाती है। एक किनारे झाड़ू पड़ा था। सफाई करके रहने के उपयुक्त बनाने में काफी परेशान होना पड़ा। भूख भी खूब लगी थी, किन्तु टेंट में पैसे नहीं थे। समाज-हॉल के नीचे की ओर दो-तीन मन्दिर थे, एक शिव-मन्दिर भी था। वह स्थान खूब निर्जन तथा स्वच्छ था। जल भी था। संन्यासी वहाँ जाकर हाथ-मुँह धोकर बैठ गया।

एक पंजाबी सज्जन आये और नमस्ते करके बैठ गये। बोले – "आप शायद आर्यसमाज में आये हैं। मैं एक विषय को लेकर बड़े द्वन्द्व में फँसा हूँ। अपना कर्तव्य निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ। यहाँ के सभी समाजियों के साथ मेरा भयंकर विरोध हुआ है, जिसके फलस्वरूप मैंने मुसलमान धर्म स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है। आपके आने की खबर सुनकर मिलने चला आया। मैं कराची के 'जात-पात-तोड़क-मण्डल' का अध्यक्ष हूँ। मैंने प्रचार के लिये आर्यसमाज को डेढ़ लाख रुपये दिये हैं, परन्तु देखता हूँ कि इन लोगों की बातों तथा आचरण में मेल नहीं है। साल में एक बार सबके साथ खाते हैं; बस, हो गया, उसके बाद कोई सम्बन्ध नहीं रखते। वैवाहिक आदान-प्रदान करने को तैयार नहीं हैं। इससे तो मुसलमान ही अच्छे हैं। उनमें कोई जात-पात नहीं है। चाहे कोई भी हो, बस, मुसलमान होने से ही हो गया। इसीलिये मैंने निश्चय किया है कि मैं इन लोगों के सामने ही मुसलमान हो जाऊँगा। मौलवी के साथ बातें हो गयी हैं। परसों शुक्रवार के दिन कलमा पढ़ायेंगे। आयोजन चल रहा है। ये लोग भी विरोध करने को तैयार हो रहे हैं। हुल्लड़ होने की आशंका बताते हुए पुलिस को व्यवस्था बनाये रखने का अनुरोध किया गया है।"

संन्यासी – "आप तो बुद्धिमान आदमी प्रतीत होते हैं, परन्तु इस कार्य में गलती कर रहे हैं – भयंकर गलती ! लगता है कि आपने इतिहास नहीं पढ़ा। इसी प्रकार कितने ही लोग मुसलमान या ईसाई हो गये, परन्तु इसके द्वारा समाज-सुधार नहीं हुआ। जो व्यक्ति घर से बाहर चला जाता है, वह घर के भीतर के दोष नहीं सुधार सकता। परन्तु यदि वह घर के भीतर रहकर शोरगुल मचाता रहे, तो लोग बाध्य होकर सुनते हैं और क्रमश: दोष में सुधार भी आता है। यह तो मनोवैज्ञानिक बात है – कोई व्यक्ति ज्योंही समाज का त्याग करता है, त्योंही उसका कुछ भी बोलने का अधिकार चला जाता है और कोई भी उसकी बातों पर ध्यान नहीं देता। यह मानो कछुए के ऊपर की खाल है। उसे ऊपर से भले ही मार डाला जाय, परन्तु वह हाथ-पाँव बाहर नहीं निकालता – मृत्यु का वरण कर लेता है। यही पुरातनपन्थियों की मनोवृत्ति है। इसे चाहे दोष कहिये या गुण, पर यही उनकी अस्थि-मज्जा तक में घुसा हुआ है। इसमें केवल दोष ही है – ऐसा समझना भूल है। आज जो हिन्दू समाज बचा हुआ है, वह उन्हीं के दृढ़ संकल्प के कारण बचा हुआ है – हजारों वर्षों तक लूट-मार, जुल्म करने पर भी, बहुत-से प्रलोभन रहने पर भी उन लोगों ने धर्म नहीं छोड़ा। सिख लोगों को ही देखिये न ! यह तो हाल ही की बात है। इसी में मनुष्य का गौरव है। सुधार नहीं सका, तो छोड़कर चल दूँगा – यह तो शक्तिमान का नहीं, दुर्बल का कार्य है। आप लोग गीता तो पढ़ते नहीं – प्रतिबन्ध लगा रखा है – उसमें लिखा है कि अपना धर्म यदि दोषपूर्ण हो, तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये, वह धर्म चाहे वर्णगत हो या समाजगत। भीतर रहकर ही सुधारने की – शुद्धीकरण करने की चेष्टा करना ही उचित है। आप इस दृष्टिकोण से भी आधे घण्टे विचार कीजिये, उसके बाद फिर चर्चा होगी। अच्छा, आपने भोजन तो किया है न, या झगड़े में ही लगे हुए हैं?"

सज्जन – "जी, कुछ खाया तो नहीं। आपका भी तो भोजन अवश्य ही नहीं हुआ होगा?"

संन्यासी के 'न' कहने पर वे तुरन्त उठकर चले गये और बहुत-सी खाने की चीजें लाकर बोले – "पहले आप खाइये।" संन्यासी ने उसमें से आधा भाग बलपूर्वक उन्हें दे दिया और कहा – "पेट में कुछ जाने से दिमाग ठण्डा होगा।"

खाने के बाद वे स्वयं बोले – "आपने जो कुछ बताया, उस दृष्टि से तो मैंने सोचा ही नहीं था। क्रोध के कारण सिर में सब गोलमाल हो गया था और किसी ने भी मुझे इस तरह समझाया भी नहीं। उल्टे लोगों ने मारने की धमकी दी। पर मैं भी कोई डरनेवाला आदमी नहीं हूँ। उसी दिन मैंने मुल्ला के पास जाकर सब ठीक कर दिया था, परसों शुक्रवार को होने की बात है। उन्हें वचन दे चुका हूँ, अब क्या करूँ?"

संन्यासी – "शास्त्र कहते हैं कि कामवशात् क्रोधवशात् ईर्ष्यावशात् भयात् वा – जो प्रतिज्ञा की जाती हैं, ज्ञानीगण उसे स्वीकार नहीं करते। स्थिर बुद्धि से विचार करने के बाद जो प्रतिज्ञा की जाती है, वही उत्तम है, सभी के लिये स्वीकार्य है और शास्त्र के भी अनुकूल है। आपने तो क्रोध के आवेग में 'वचन' दिया था और उस समय आपने यह भी नहीं सोचा था कि इससे 'समाज' को भारी क्षति होगी। एक बात और – आप तो व्यवसाय करते हैं – जीवन में कितने बार आपने वचन तोड़ा है, इस पर थोड़ा विचार कीजिये।"

वे सज्जन बहुत देर तक चुप बैठे रहे, इसके बाद बोले – "इस मामले में आप जो भी निर्देश देंगे, उसे मैं करने को तैयार हूँ, क्योंकि आप निरपेक्ष कल्याण ही चाहते हैं।"

संन्यासी को मुक्ति जैसी शान्ति का बोध हुआ। बोला – "आज रात को भोर होने के पहले ही चुपचाप कराची चले जाइये। वहाँ पहुँचने के बाद इन लोगों को पत्र द्वारा सूचित कर दीजियेगा। अभी पठानकोट या अमृतसर के समाजियों के साथ भेंट भी मत कीजियेगा। इसी में आपका, इन लोगों का और डलहौजी-वासियों का भी कल्याण है।"

सज्जन – "कोई 'सेवा' बताइये !"

संन्यासी – "यही सेवा है। इस समय कमरे में जाकर दरवाजा बन्द करके सोये रहिये, बस ! किसी के साथ भेंट मत कीजियेगा। आपका मंगल हो !"

अगले दिन भोर में उठकर वे सज्जन 'लापता' हो गये। नगर-बाजार में खूब शोरगुल मचा। मस्जिद में बड़ी मिटिंग हुई। पुलिस परेशान होकर दौड़धूप करती रही। परन्तु कोई घटना नहीं हुई। रात को समाजी लोग संन्यासी के पास आये। उन लोगों ने जानने की बहुत चेष्टा की, परन्तु संन्यासी ने कोई संकेत तक नहीं दिया। 'सबसे भला चुप' – इसी नीति का आश्रय लिया। हॉल की छत टिन की बनी थी। रात से समय धड़ाम-धड़ाम ईंट-पत्थर पड़ने लगे। पुलिस ने उन गड़बड़ मचानेवालों को भगाया। दूसरे-तीसरे दिन भी वैसा ही हुआ। इसके बाद संन्यासी चम्बा की ओर चला।

चम्बा पहाड़ (१९२७-२८)

चम्बा पहाड़ काश्मीर का एक हिस्सा है और अत्यन्त सुन्दर है। राजा सिक्ख हैं। एक भाई ने वहाँ के स्कूल के हेड-मास्टर को पत्र लिखकर सूचना दे दी थी। संन्यासी के पहुँचते ही उन्होंने उसके रहने के लिये मन्दिर से लगे हुए धर्मशाले का एक बड़ा कमरा खुलवा दिया था। भिक्षा एक-एक दिन के अन्तर से हेड-मास्टर तथा राजा साहब के निजी सचिव के घर से आती थी। यह व्यवस्था उन लोगों ने स्वयं ही की थी। बीच-बीच में सनातन-धर्मसभा के अध्यक्ष भी खिला दिया करते।

बाजार के नीचे एक सुन्दर विशाल मैदान था। वे लोग प्रतिदिन शाम को वहाँ टहलते हुए संन्यासी के साथ बातचीत और चर्चा किया करते थे। एक दिन एक विशाल पगड़ीवाले व्यक्ति ने आकर सीधे साष्टांग प्रणाम किया। प्रश्नों की झड़ी लगा दी – "कब आगमन हुआ? कितने दिन आसन रहेगा? भिक्षा की क्या व्यवस्था है?" आदि। हेड-मास्टर से सारे प्रश्नों का उचित उत्तर पा लेने के बाद उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया – "अब से केवल वे ही भिक्षा देंगे।" बस ! कुछ भी सुनने को तैयार न थे। बिल्कुल नाछोड़ बन्दा थे। काफी बहस के बाद उन लोगों ने दो सप्ताह निर्धारित किया।

– "कितने बजे भोजन करते हैं?"

– "साढ़े दस से ग्यारह बजे के बीच।"

– "बहुत अच्छा, दस बजे ही पहुँचा दूँगा।"

– "अच्छी बात है।"

अगले दिन से ही उसकी भिक्षा देने की बात थी। दस, ग्यारह – बारह – एक और दो भी बज गये, परन्तु उसका कोई अता-पता नहीं था। संन्यासी भूख से कातर होकर पानी पी-पीकर पेट भर रहा था। पहाड़ी अंचल और दुर्बलता का बोध हो रहा था, इसलिये उस दिन टहलने नहीं गया। हेड-मास्टर तथा सचिव ने सोचा कि अन्यत्र कहीं गये होंगे, इसीलिये इधर नहीं आये।

रात को दस बजे लगा कि कोई दरवाजा ठेल रहा है। खोलकर देखा – वे ही सज्जन थे – विनय के मूर्तिमान अवतार ! तत्काल अपने सिर की पगड़ी को खोलकर संन्यासी के पाँवों के पास रख दिया और – "अरे महाराज, क्षमा कीजिये। मैं तो बिल्कुल ही भूल गया था। रात को लेटने के बाद सोच रहा था कि कोई कार्य बाकी तो नहीं रह गया है ! सहसा आपकी बात याद आ गयी – अरे, भिक्षा देना तो हुआ ही नहीं ! अब क्या किया जाय? स्त्री से पूछा – घर में कुछ है या नहीं? वह बोली – मात्र चार दाल-बड़ों को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है। वही लेकर उपस्थित हुआ हूँ, महाराज !

ग्रहण कीजिये। कल सुबह ठीक समय पर ले आऊँगा। अब दुबारा ऐसी भूल नहीं होगी। आप लोग महात्मा हैं, क्षमा ही आप लोगों का धर्म है। निश्चय ही आप मेरी भूल पर ध्यान नहीं देंगे।'' आदि, आदि।

संन्यासी के लिये दूसरा कोई चारा न था। वही खाकर पानी पी लिया और सोचने लगा – ''माँ ने आज यही जुटाया है। उनकी जो इच्छा !'' पैसे रहते, तो खरीद कर खा लेता, परन्तु जेब बिल्कुल खाली थी; उसमें कुछ भी नहीं था। माँगने या पत्र लिखकर मँगवाने का अभ्यास कभी नहीं रहा। अयाचित रूप से जो भी मिल जाता है, उसी को लेकर काम चलाने का अभ्यास था, इसलिये ऐसी परिस्थिति में सहन करने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या था ! फिर, अब उसने माधूकरी करना भी छोड़ दिया था। शाम को हेड-मास्टर के घर जाकर बताने से ही खाने को मिल जाता, परन्तु खाने की इच्छा ही नहीं हुई।

अगले दिन फिर पिछले दिन के ही समान उनका कोई अता-पता नहीं था। फिर ठीक वैसे ही रात को दस बजे हाजिर हुए और साष्टांग प्रणाम के बाद क्षमा-याचना का नाटक चला। साथ में चार दही-बड़े लाये थे; वह भी रात के समय दुकानदार को जगा कर ! केवल उतना ही बचा था। इसके लिये वे बड़े दुखी हैं। ''दुबारा बिल्कुल भी भूल नहीं होगी, यह देखिये पगड़ी में गाँठ बाँध रहा हूँ।'' आदि आदि।

उस दिन अत्यधिक दुर्बलता का बोध होने के कारण संन्यासी बाहर नहीं निकला था। हेड-मास्टर तथा सचिव भी यह सोचकर नहीं आये कि वह अन्य किसी ओर घूमने गया होगा। ठीक संध्या के समय नडियाद के एक गुजराती साधु रात बिताने के लिये संन्यासी के पास आये। ये मनमहेश नामक शैव तीर्थ का दर्शन करने गये थे। मनमहेश तिब्बत की सीमा के बर्फीले अंचल में स्थित है और अमरनाथ के समान ही दुर्गम है। चम्बा होकर जाने का मार्ग है। जाने के पूर्व उनकी संन्यासी से भेंट हुई थी।

कुछ इधर-उधर की बातें होने के बाद वे बोले – ''आप बड़े दुर्बल दीख रहे हैं। स्वास्थ्य तो ठीक है न !''

संन्यासी – ''स्वास्थ्य तो ठीक है, परन्तु दो दिनों से पेट में कुछ न जाने के कारण ऐसा दीख रहा है।''

– ''क्यों? क्या उन लोगों ने भिक्षा नहीं भेजी?''

संन्यासी को बाध्य होकर सारी घटना बतानी पड़ी और साथ ही वह बोला – ''अब उस व्यक्ति के आने का समय भी हो गया है।'' और इसके साथ ही दरवाजे को खटखटाने की आवाज सुनाई दी। संन्यासी ने उन साधु से अनुरोध किया कि वे उससे कुछ भी न कहें और स्वयं ही उसकी ओर से माफी माँग ली। इसके बाद उस व्यक्ति का नाटक समाप्त हो जाने पर संन्यासी ने कहा – ''दो दिन तो आपने भिक्षा दी, अब और जरूरत नहीं है। मुझे लगता है कि आपको बड़ा कष्ट हो रहा है। इतनी दूर से इतनी रात को आये हैं !''

– ''नहीं, नहीं, कोई कष्ट नहीं हो रहा है। सन्त की सेवा करने में भी क्या कहीं कष्ट होता है ! आप नाराज हो रहे हैं। क्षमा कीजिये। इसके बाद किसी भी दिन भूल नहीं होगी। आप तो संन्यासी-योगी हैं। कभी भी थोड़ा-बहुत कुछ मिल जाने से ही हो गया। यहाँ एक बार एक योगी आये थे। वे थोड़े से दूध में एक तोला चावल उबालकर जरा-सा घी डालकर २४ घण्टे में केवल एक बार खाते थे।''

संन्यासी – ''तो ठीक है, वैसे ही कोई योगी जब दुबारा आयेंगे, तब आप उनकी सेवा कर लीजियेगा। परन्तु मैं जो योग करता हूँ, उसमें तो बड़ी भूख लगती है। इसीलिये यहाँ आधे दर्जन मोटी-मोटी रोटियों की जरूरत पड़ती है; और वह तो आपके लिये जुटा पाना सम्भव नहीं है। इसलिये कल से आप कृपया मत आइयेगा।''

– ''जो आज्ञा ! लेकिन आप नाराज हो रहे हैं। मैंने तो दो सप्ताह भिक्षा देने का वचन दिया था। संन्यासी ने कहा – ''वह तो सत्य है, परन्तु उन लोगों को सूचित कर दीजियेगा कि आपको मना कर दिया गया है। अब जाइये।''

उसके चले जाने पर गुजराती साधु बोले – ''आपने किस कारण मुझे मना कर दिया था? नहीं तो, मैं उसे ऐसी शिक्षा देता कि अपने इस बन्दरपने को सदा-सदा के लिये भूल जाता। बदमाश कहीं का !''

संन्यासी ने उनसे यह बात हेड-मास्टर तथा सचिव को न बताने और केवल भिक्षा मात्र भेजने के लिये अनुरोध करने को कहा। परन्तु सुबह उठते ही उन्होंने पहला काम वही किया। वे लोग ५-७ अन्य सज्जनों को साथ लेकर तत्काल संन्यासी के पास उपस्थित हुए। बोले – ''यह क्या, महाराज? उसने इतना कष्ट दिया ! उसने तो कहा था कि प्रतिदिन एक बार भिक्षा देगा, परन्तु वह आदमी ऐसा है, यह तो हमें पता ही नहीं था। आपने हम लोगों को जरा भी बताया क्यों नहीं? तभी व्यवस्था हो जाती।''

संन्यासी ने कहा – ''उसे दो दिन अवसर दिया गया, परन्तु यह उसकी शक्ति से नहीं हो सका। लगता है कि उस व्यक्ति को कोई मनोरोग है, जिस कारण वह जो समय बताता है, उसके ठीक उल्टे समय उसे याद आती है। जैसे सुबह दस बजे आने को कह गया, तो रात के दस बजे जाने की बात याद आती है। ऐसा नहीं लगता है कि उसने जान-बूझकर ऐसा किया होगा। अत: अब उसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।''

परन्तु बात यही समाप्त नहीं हुई। राजा साहब के निजी

सचिव अपने दफ्तर में जाकर सहकर्मियों के साथ उसी व्यक्ति के विषय में टीका-टिप्पणी कर रहे थे, तभी संयोगवश उधर ही आ निकले और चर्चा का विषय पूछने लगे। उन्हें विवश होकर सारी बातें कहनी पड़ीं। सब सुनकर वे स्तब्ध रह गये और आदेश दिया – "उसे बुलवाओ, उसने सन्त के साथ ऐसा किया है। उसे ऐसी शिक्षा देनी होगी, ताकि वह भविष्य में कभी ऐसा न करे।" बस, उसे तलब करने के लिये आदमी भेज दिया गया; परन्तु सचिव ने उसी के हाथ संन्यासी को सारी बातें सूचित करते हुए एक पत्र भेज दिया। सर्वनाश ! तब तो यह सुप्रीम कोर्ट से भी ऊपर जा चुका है। उसकी कहीं अपील नहीं हो सकती। अब क्या किया जाय?

संन्यासी ने शीघ्रतापूर्वक सचिव को पत्र लिखकर सूचित किया – "आप राजा साहब को संन्यासी का सादर अनुरोध बतायें कि उस व्यक्ति को दण्डित करने पर संन्यासी को बहुत दु:ख होगा, यह मानो उन्हीं को दण्ड देने के समान होगा, इसलिये वे उसे थोड़ा-सा डाँट-फटकार कर ही छोड़ दें। इसी से उनका कर्तव्य पूरा हो जायेगा।" और उस पत्रवाहक से कहा कि पहले इस पत्र को सचिव साहब को दिखाने के बाद ही वह उस व्यक्ति को बुलाने जाय। सचिव ने वह पत्र पढ़कर राजा साहब को सुनाया। वे बोले – "अरे, सन्त को ऐसा कष्ट दिया ! आया होता, तो इसी हंटर से मार-मारकर उसकी पीठ की छाल उधेड़ देता। वह बच गया। खैर, उसे बुलवाओ, मैं देखना चाहता हूँ कि वह कौन है।"

उसके आने पर राजा साहब ने उसे हंटर दिखा-दिखाकर खूब खरी-खोटी सुनायी और बोले – "तूने जो अपराध किया है, उसके लिये मैं तेरे पीठ की खाल उधेड़ देता, परन्तु सन्त के अनुरोध की अवहेलना नहीं कर सकता। जा, लेकिन याद रखना, यदि फिर कभी ऐसा कुछ किया, तो नहीं बचेगा।"

शाम को राजा साहब का स्टाफ, सनातन धर्मसभा के अनेक सदस्य, बाजार के बहुत-से लोग, स्कूल के शिक्षकगण धर्मशाले में आकर उपस्थित हुए। सबके मुख में बस वही, एक ही बात थी। इसके बाद नगर में एक सभा हुई, जिसमें धर्मसभा के अध्यक्ष ने – "सन्त किसे कहते हैं?" – विषय पर भाषण दिया। उसके बाद संन्यासी को भी कुछ बोलना पड़ा। उसने मनोविज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र का हवाला देते हुए सबको समझाया कि उस व्यक्ति ने जान-बूझकर वैसा नहीं किया था, अत: उसे कोई दण्ड न दिया जाय।

* * *

कुछ दिनों बाद संन्यासी नगर तथा कैंट (छावनी) के बीच के ऊँचे टीले पर स्थित चण्डी-मन्दिर में रहने गया। वहाँ भिक्षा की अनियमितता थी, अधिकांश दिन थोड़ी-सी मूंग दाल उबालकर, उसे घी से छौंककर खा लेता। स्नान आदि हेतु आधे मील नीचे जाना पड़ता। बाद में पहाड़ के ऊपर की ओर मन्दिर से थोड़ी दूर एक विलो वृक्ष के नीचे थोड़ा जल मिला। वहाँ एक छोटे-से गड्ढे में थोड़ा-सा पानी रहता था। जो लोग घास या लकड़ियाँ एकत्र करने पहाड़ी पर आते, वे प्यास लगने पर उसी में से अंजली भर-भरकर पी लेते। जल को बड़ी सावधानी से अंजली में भरना पड़ता है, क्योंकि जरा-सी भी हलचल से जल मटमैला हो जाता है। संन्यासी अपने स्नान हेतु एक छोटी-सी कटोरी से थोड़ा-थोड़ा जल बाल्टी में भरता और वहीं से हाथ-पाँव धोने के लिये भी ले जाता। एक दिन मन में आया कि गड्ढे को थोड़ा गहरा करने से उसमें थोड़ा अधिक जल रहेगा। स्नान आदि के बाद एक बाल्टी पानी भर लिया। इसके बाद कटोरे से उस गड्ढे को थोड़ा खोदने लगा। उसमें वृक्ष की इतनी जड़ें फैली थीं कि उन्हें काटे बिना खोदना असम्भव था। शाम को देखने गया कि पानी बढ़ा है या नहीं ! हे भगवान, गड्ढा तो बिल्कुल खाली पड़ा था ! उसमें एक बूँद भी पानी न था। अब क्या किया जाय? "हे जगदम्बा, भला करने के प्रयास में बुरा हुआ, लोगों का अभिशाप बरसेगा। अहा ! जब लोग पहाड़ से बोझ लिये उतरते हैं, तो उतना सा जल ही उनकी प्यास बुझा देता था। परन्तु अब वह भी गया ! हे माँ, दया करो, इसे नष्ट न होने दो।" – आदि प्रार्थना करने लगा। संन्यासी ने सुबह जो मिट्टी खोदी थी, वह वहीं पड़ी थी; उसे पुन: यथास्थान डाल दिया। रात भर जगदम्बा से प्रार्थना करता रहा – "माँ, दया करो, उसे फिर से ठीक कर दो। अन्यथा बहुत-से लोगों को कष्ट होगा, माँ !"

सुबह डरते-डरते वहाँ की हालत देखने गया। देखा कि जल पहले के समान मात्रा में ही भरा हुआ है। जय माँ ! जय माँ ! पहले के समान ही कटोरी से भर-भरकर स्नान आदि के लिये पानी लिया और पानी पहले के समान ही पूर्ण रहा !

यह अनुभव मन में अंकित हो गया कि पहाड़ में खोदना आदि हो, तो बड़ी सावधानी बरतना उचित है। पर अल्मोड़ा जिले के धारचूला का अनुभव थोड़ा भिन्न था।

❖ (क्रमश:) ❖

महारानी दमयन्ती

स्वामी सत्यरूपानन्द

नारीत्व की पराकाष्ठा सतीत्व में और उसका पूर्णत्व मातृत्व में है। महारानी दमयन्ती इन दोनों अर्थों में नारीत्व के आदर्श की जीवन्त विग्रह थीं, नारी के सर्वाङ्गीण चरित्र का सम्पूर्ण विकास थीं।

विदर्भ में किसी समय भीम नाम के राजा राज्य करते थे। बहुत दिनों तक उनके कोई सन्तान न हुई। राजा ने सन्तान लाभ की कामना से दमन नामक एक ऋषि की बड़ी सेवा की। ऋषि के आशीर्वाद से राजा की चार सन्तानें हुईं। तीन पुत्र और एक पुत्री। यह पुत्री ही दमयन्ती थी।

विदर्भ के वैभव की तरह दमयन्ती का सौन्दर्य भी अद्वितीय था। रूपवती राजकुमारी गुण और विद्या से भी सम्पन्न थी। उसके रूप की सुरभि आस-पास तो प्रसारित हो ही रही थी; साथ ही व्यापारियों, यात्रियों, आदि के द्वारा सुदूर देशों में भी फैलने लगी थी। देश-देशान्तर के राजे युवराज दमयन्ती को पाने का स्वप्न देखने लगे थे।

निषध देश में उन्हीं दिनों महाराज बीरसेन के पुत्र नल राज्य करते थे। नल भी पुरुषों में अद्वितीय थे। शौर्य, शील, विद्वत्ता आदि गुण मानों उनके व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरे थे। सौन्दर्य में उनके सम्मुख गंधर्व भी लज्जित थे। निषध-नरेश नल की सुख्याति भी उन दिनों देशान्तर व्यापी हो रही थी। दमयन्ती ने भी राजा नल के पराक्रम और सौन्दर्य की कीर्ति सुनी। उसने मन-ही-मन महाराज नल का वरण कर लिया।

इधर राजा नल ने भी दमयन्ती के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी। उनका भी मन दमयन्ती के प्रति आकृष्ट हो उठा। उन्होंने भी मन-ही-मन उसे पाने का निश्चय कर लिया।

दमयन्ती कुछ उदास-सी रहने लगी। सखियों ने उसके मन की व्यथा को ताड़ लिया और यह बात उन्होंने राजमाता से कही। राजमाता ने महाराज से परामर्श कर राजकुमारी दमयन्ती के स्वयंवर के आयोजन का निश्चय किया। देश-देशान्तर के सभी योग्य राजाओं-महाराजाओं को स्वयंवर का निमन्त्रण भेजा गया। यथासमय वे सभी राजे-महाराजे ठाट-बाट से विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर पहुँचे।

इधर देवताओं को भी देवर्षि नारद के द्वारा दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार मिला। उन्होंने भी दमयन्ती की स्वयंवर सभा में उपस्थित होकर अपनी भाग्य-परीक्षा का निश्चय किया। अभी देवगण मार्ग में ही थे कि उनकी भेंट निषधराज नल से हो गई। नल का सौन्दर्य देखकर देवगण मुग्ध हो गये। राजा नल को रोक कर देवताओं ने उनका परिचय पूछा। परिचय जानकर देवताओं ने सत्यनिष्ठ नल को वचनबद्ध कर लिया। और जब नल वचनबद्ध हो गये, तब देवताओं ने उनसे कहा, "निषधराज ! तुम विदर्भकुमारी दमयन्ती के पास हमारे दूत बन कर जाओ तथा उनसे कहो कि वे स्वयंवर में हम देवों में से किसी एक का वरण करें।"

नल ने सनम्र निवेदन किया, "देवगण ! मैं स्वयं भी वैदर्भी को प्राप्त करने की ही कामना से स्वयंवर-सभा में जा रहा हूँ। तब भला मैं कैसे इसी कार्य के लिये आप लोगों का दूत बन सकता हूँ?" किन्तु देवताओं ने उन्हें स्मरण दिलाया, "निषधराज ! तुम वचन-बद्ध हो। वचन-भंग करने पर तुम्हारी सत्य-निष्ठा भंग हो जायेगी।"

सत्यनिष्ठ नल ने सत्य की रक्षा का ही निश्चय किया। उन्होंने देवताओं की आज्ञा शिरोधार्य की और दूत बनकर दमयन्ती को देवताओं का सन्देश देने चल पड़े। देवताओं के वरदान स्वरूप उन्हें महल के भीतर प्रविष्ट होने में कोई असुविधा न हुई। वहाँ पहुँचकर नल ने राजकुमारी दमयन्ती को अपना परिचय दिया। नल का परिचय पाकर, अपनी कल्पना के सम्राट् को प्रत्यक्ष देखकर विदर्भकुमारी प्रेम और आनन्द से खिल उठी। किन्तु साथ ही स्त्रियोचित लज्जा ने उसके अंगों को मानो सिकोड़-सा दिया। दूसरे ही क्षण सकुचाई दमयन्ती लज्जा से पुष्पित पलाश की तरह लाल हो उठी।

दमयन्ती की रूप राशि से स्तब्ध और मुग्ध नल ने कातर किन्तु दृढ़ स्वर में कहा, "देवि ! मैं आपके समक्ष देवों के दूत के रूप में उपस्थित हुआ हूँ। इन्द्र, अग्नि, मरुत, आदि देवताओं की यह इच्छा है कि आप स्वयंवर-सभा में उन्हीं में से किसी एक का वरण करें। कल्याणी ! इसी में आपका कल्याण भी है; क्योंकि पृथ्वी का कोई भी मनुष्य वैभव, सौन्दर्य और सम्पदा आदि में देवताओं की समानता नहीं कर सकता।" भय मिश्रित स्वर में नल ने आगे कहा, "और यदि देवगण रुष्ट हो जायँ, तो अनिष्ट की भी संभावना है।"

दमयन्ती के लिये परीक्षा का यह प्रथम अवसर था। एक ओर देवताओं का स्वर्गीय सुख-वैभव था और दूसरी ओर निषधराज नल थे। जिन्हें बिना देखे ही मन-ही-मन उसने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था। क्या वह देवताओं में से किसी एक का वरण कर ले? फिर, उसके प्रियतम महाराज नल ही तो देवताओं का सन्देश लेकर आये हैं। तब वह क्यों न उस सन्देश को स्वीकार कर ले? नहीं ! नहीं ! नल के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष या देव का चिन्तन ! ! ! यह कदापि नहीं हो सकता। यह तो नारी की मर्यादा को भंग करना होगा। क्या सतीत्व मात्र शारीरिक अवस्था है? क्या

केवल शरीर की शुद्धि और पवित्रता ही सतीत्व है? नहीं, वह तो सतीत्व का परिणाम है – उसका लक्षण है। सतीत्व तो नारी के मन की अवस्था है। मन से अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष का चिन्तन न करना ही सतीत्व है। इसी में पत्नीत्व की पूर्णता है। यही पत्नी का आदर्श है, उसका धर्म और उसका कर्त्तव्य है !

विदर्भकुमारी की यह मानसिक झंझा अधिक देर न टिक सकी। उसने क्षण मात्र में अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। निश्चय की दृढ़ता उसके मुख पर आलोकित हो उठी। उसने अपने आप से कहा – ''मैं अपने सुहाग की डोर निषधराज नल से ही बाँधूँगी।''

नल की ओर सजल नेत्रों से देखते हुये उसने कहा, ''प्राणनाथ ! मैंने अन्त:करण से आपको अपना पति मान लिया है। यह जीवन अब आपकी ही सेवा में अर्पित होगा। मैं किसी भी देवता को पति रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। रही देवताओं से अनिष्ट की आशंका। आप उसकी चिन्ता न करें। मैं स्वयं देवताओं से अपने सतीत्व की रक्षा की प्रार्थना करूँगी। स्वयंवर में उनके सामने ही आपका वरण कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करूँगी।''

शुभ मुहूर्त में स्वयंवर-सभा प्रारम्भ हुई। उपस्थित राजे-महाराजे तथा दर्शकगण बड़ी सज-धज के साथ सभा में बैठे थे। भाटों और चारणों ने एक-एक कर राजाओं और राजकुमारों का परिचय दमयन्ती को दिया। वैदर्भी के भावों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि उसे उन परिचयों में कोई रुचि नहीं है। राजकुमारी ने किसी की ओर कटाक्ष भी न किया। एक जगह आकर वह सहसा रुक गई। उनके मुख पर भय, आकुलता और आश्चर्य के मिश्रित भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे।

यह क्या? यहाँ तो एक के स्थान पर पाँच-पाँच नल बैठे थे। वह भ्रमित हो उठी। वास्तविक नल कौन है? यह कैसे जाने? क्या उसकी पुन: परीक्षा हो रही है? क्या उसका निश्चय डिग जायेगा? उसका हृदय काँप उठा। उसने कातर भाव से मन-ही-मन प्रार्थना की – ''हे देवगण, मेरी रक्षा करो। मेरे सतीत्व की रक्षा करो। मेरे धर्म की रक्षा करो। मैंने सभी देवों को साक्षी रखकर निषधराज नल को ही अपना पति चुना है। मुझे शक्ति दो कि मैं वास्तविक नल को पहचान सकूँ।''

अबला की करुण प्रार्थना से देवताओं का हृदय पसीज उठा। उन्होंने अपनी माया समेट ली। दमयन्ती ने देखा कि चार देवों के मध्य में उसके हृदय देवता नल बैठे हैं। विह्वल होकर उसने निषधराज नल के गले में जयमाला डाल दी। शंखध्वनि होने लगी। देवताओं ने दुन्दुभी बजाकर नल-दमयन्ती का अभिनन्दन किया।

नल तथा दमयन्ती परस्पर एक दूसरे को पाकर धन्य थे। उनके जीवन में आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा था। दिन क्षणों की भाँति और वर्ष दिनों की भाँति बीतने लगे। यथासमय उनकी दो सन्तानें हुईं – एक पुत्र और एक पुत्री।

सतत सावधानी, निरन्तर जागरूकता तथा अहर्निश प्रयास सदाचार और चरित्र के प्रहरी हैं। इन प्रहरियों का क्षणमात्र का प्रमाद हमारी वर्षों की साधना को मिट्टी में मिला देता है। हमारे चरित्र रूपी पात्र का छोटा-सा छिद्र वर्षों की साधना से संचित साधना-रस से हमें रिक्त कर देता है।

राजा नल सद्गुणी थे, सदाचारी थे, सत्यनिष्ठ थे। किन्तु उनमें एक दुर्गुण, एक व्यसन ऐसा था, जिसने उन्हें राजा से रंक बना दिया। उनका राज्य छिन गया, संपत्ति छिन गई। अधिकार चला गया। यहाँ तक कि दुख और निराशा से पीड़ित उन्होंने अपनी प्राणप्रिया पत्नी को भी त्याग दिया।

वह दुर्गुण था जुए का। राजा नल का एक भाई था। उसका नाम था पुष्कर। कुटिल और स्वार्थी। उस दुष्ट से राजा की यह दुर्बलता छिपी नहीं थी। वह जानता था, नल के दृढ़ चरित्ररूपी कवच का मर्मस्थल कहाँ है और राजा की दृढ़ता कहाँ पराभूत हो सकती है। एक दिन पुष्कर ने राजा नल को जुआ खेलने के लिये ललकारा।

मनुष्य के चरित्र की दुर्बलतायें अवसर और सुविधा के अभाव में दबी पड़ी रहती हैं और मनुष्य सोचने लगता है कि वह उन दुर्बलताओं से मुक्त है। किन्तु जब कभी परीक्षा का अवसर आता है, प्रलोभन आते हैं, सुविधायें प्राप्त होती हैं, तब संयम का बाँध टूट जाता है। हमारी प्रसुप्त वासनायें, दुर्बलतायें शतमुखी होकर प्रबल वेग से फूट पड़ती हैं। हमारे चरित्र का दुर्ग ढह जाता है और इसका बोध मनुष्य को तब होता है जब उसका सर्वस्व लुट चुका होता है। नल के हृदय में छिपी जुये की वासना को प्रकट होने का अवसर मिल गया। पुष्कर की ललकार ने संयम के जर्जर प्राचीर को ढहा दिया। नल जुए का दाँव लगाने को प्रस्तुत हो गये। खेल महीनों चलता रहा। राजा एक-एक कर हाथी, घोड़े, गायें, धन-सम्पत्ति सभी हारते गये, यहाँ तक कि उन्होंने अपना राजपाट सभी कुछ जुए की बलिवेदी पर चढ़ा दिया।

जहाँ एक ओर साध्वी पत्नी का परामर्श जीवन की पराजय को विजय में परिवर्तित कर देता है, वहीं दूसरी ओर उसकी अवहेलना जीवन की सफलता को विफलता की करुण कहानी भी बना सकती है। पतिव्रता दमयन्ती ने राजा नल को जुये से विरत करने की अनेक चेष्टा की, किन्तु नल विरत न हुये।

विदुषी दमयन्ती ने भावी आपत्ति की आशंका को भाँप लिया था। उन्होंने सारथी को बुलाकर राजकुमार इन्द्रसेन और राजकुमारी इन्द्रसेना को उसके हाथों सौंप दिया और रुँधे गले से सारथी से प्रार्थना की कि मेरे बच्चों को मेरे पिता के घर कुण्डिनपुर पहुँचा दो।

सारथी वार्ष्णेय ने सजल नेत्रों से अपनी स्वामिनी को

प्रणाम किया और कुमार और कुमारी को लेकर विदर्भ देश की राजधानी की ओर चल पड़ा। बच्चों को उनके ननिहाल में छोड़कर वह जीविका की खोज में अन्यत्र चला गया।

राजा नल जुये में अपना सर्वस्व गँवा बैठे। उनके कुटिल भाई ने उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया। और मुनादी पिटवा दी कि जो कोई राजा नल को प्रश्रय देगा या उनकी सहायता करेगा, उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा।

निष्ठुर नियति का चक्र निर्विघ्न चलता रहता है। होनी को भला कौन रोक सकता है? कल के सम्राट् नल और साम्राज्ञी दमयन्ती आज राजपथ पर भटकने वाले निरीह भिखारी थे। पृथ्वीपति महाराज नल को आज कहीं सिर छिपाने को भी स्थान नहीं था।

दमयन्ती के जीवन की दूसरी कठिन परीक्षा की घड़ी तब आई, जब महाराज नल ने कोमलांगिनी दमयन्ती से कहा, ''प्रिये! तुम अपने पिता के घर चली जाओ। मुझे अपने भाग्य पर छोड़ दो। तुम वन का कष्ट नहीं सह सकोगी।''

इस समय नल और दमयन्ती के अनशन के तीन दिन बीत चुके थे। वन की भयानक पीड़ाओं से दमयन्ती परिचित हो चुकी थी। एक ओर था पितृगृह का राज-वैभव और दूसरी ओर वन के असह्य कष्ट, भीषण यंत्रणायें!

वन की यंत्रणाओं का स्मरण कर एक बार दमयन्ती का मन सिहर उठा। उसने राजा नल को प्रेरित करने का प्रयास किया – ''प्राणनाथ! आप भी चले चलिये मेरे पिता के घर। वे आपका स्वागत करेंगे। हमारे बच्चे वहाँ हैं ही। हम सब वहाँ सुखपूर्वक रह सकेंगे।''

नल किसी भी तरह राजी न हुये। स्वयं वन में रहकर उन्होंने दमयन्ती से अपने पिता के घर चले जाने का आग्रह किया। पतिव्रता दमयन्ती को वन की यंत्रणायें न डिगा सकीं। पितृगृह के राजवैभव उसे आकर्षित न कर सके। उसने नम्रतापूर्वक राजा से विनय किया – ''महाराज! आपकी सेवा और सान्निध्य ही मेरा स्वर्ग है। आप वनों में मारे-मारे फिरते रहें और मैं पिता के घर राज-सुख भोगूँ? नहीं! नहीं! यह मुझसे कदापि न होगा। मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। आप ऐसी बातें मुझसे न कहें।'' यह कहते-कहते दमयन्ती का गला रुँध गया, आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। नल और अधिक आग्रह न कर सके।

हम सभी जानते हैं कि राजा नल किस प्रकार विपत्तियों से घबड़ाकर, सोती दमयन्ती को वन में अकेली छोड़कर किसी अज्ञात स्थान की ओर चले गये। विपत्ति की मारी दमयन्ती ने नल को ढूँढ़ने का प्रयास किया। किन्तु वह नल को उस गहन वन में न ढूँढ़ सकी। वह उस निर्जन वन में भटक रही थी कि अकस्मात् एक विकराल अजगर के मुख में जा फँसी। उसने प्राणरक्षा के लिये पुन: निर्मोही पति को पुकारा। उसकी करुण पुकार एक व्याध के कानों में पड़ी, जो उस वन में आखेट के लिये आया था। वह दौड़ा हुआ उस स्थान की ओर आया, जहाँ से वह कातर स्वर आ रहा था। उसने देखा कि एक विकराल अजगर एक तरुणी सुन्दरी को निगलना चाहता है। तुरन्त ही अजगर को मारकर व्याध ने दमयन्ती की प्राणरक्षा की।

वह क्रूर व्याध दमयन्ती के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उसने दमयन्ती के प्राणों की रक्षा तो अवश्य की, किन्तु वह उसका सतीत्व नष्ट करना चाहता था। अबला सबला हो उठी। सती का सतीत्व-तेज जाग उठा। उसने उस व्याध को शाप देते हुये कहा, ''रे नराधम! यदि मैंने स्वप्न में भी राजा नल के अतिरिक्त और किसी पुरुष का चिन्तन न किया हो तो तू तत्काल निष्प्राण हो जा।''

सती दमयन्ती के मुख से इन शब्दों के निकलते ही वह क्रूर व्याध निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

दमयन्ती किसी तरह भटकती हुई व्यापारियों के साथ चेदि देश जा पहुँची। राजधानी में वह राजपथ पर विक्षिप्त की भाँति भटक रही थी। अचानक राजमाता की दृष्टि उस पर पड़ी। एक सुन्दर युवती को इस प्रकार भटकती देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने धाय को भेजकर उस विक्षिप्त-सी युवती को महल के भीतर बुलवाया और स्नेहपूर्वक उसका परिचय पूछ कर उसके दुख का कारण जानना चाहा। दमयन्ती ने केवल इतना बताया कि किसी दुख के कारण उसके पति उसे वन में अकेली सोती छोड़कर कहीं चले गये हैं। वह उनके वियोग से दुखी है तथा उन्हें ही ढूँढ़ने के लिये यहाँ-वहाँ भटक रही है।

राजमाता को इस दुखिया की दशा पर बड़ी दया आई। उन्होंने दमयन्ती से कहा, ''बेटी! तुम यहीं मेरे पास रहो। यहीं रहकर अपने पति की खोज करने का प्रयत्न करो।''

दमयन्ती ने राजमाता का आग्रह सुनकर कहा, ''माँ, मैं आपकी सेवा में रहने को प्रस्तुत हूँ। किन्तु मेरी कुछ शर्तें हैं। यदि आप कृपापूर्वक उन्हें पूरी करने का आश्वासन दें, तो मैं सहर्ष आपके पास रहूँगी।''

राजमाता ने दमयन्ती को उत्साहित करते हुये कहा, ''हाँ, हाँ, बेटी! कहो तुम्हारी क्या शर्तें हैं?''

दमयन्ती ने निवेदन किया, ''मैं किसी का जूठन नहीं खाऊँगी। किसी के पाँव नहीं धोऊँगी। पर-पुरुष से चर्चा नहीं करूँगी तथा जो भी पुरुष मुझ पर कुदृष्टि डालेगा, उसे आप कठोर दण्ड देंगी।''

दमयन्ती की इन सदाचार पूर्ण शर्तों से राजामाता बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने हँसते हुये दमयन्ती को इन शर्तों को पूर्ण करने का वचन दिया। दमयन्ती चेदिराज की कन्या की सखी के रूप में वहाँ रहने लगी।

इधर राजा नल दमयन्ती को छोड़कर भटकते-भटकते

राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या पहुँचे। वन में राजा नल को एक सर्प ने डस लिया था, जिससे उनका वर्ण श्याम हो गया था। वे कुरूप से हो गये थे। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उन्हें कोई पहचान न सकता था। राजा ऋतुपर्ण के दरबार में नल बाहुक नामक सारथी के रूप में पहुँचे। राजा ने उन्हें अपने सारथी के पद पर नियुक्त कर लिया।

विदर्भराज भीम को भी नल और अपनी पुत्री दमयन्ती के राज्यच्युत होकर वन की ओर चले जाने का दुखद समाचार मिला। उन्होंने कई विद्वान् एवं कुशल ब्राह्मणों को बहुत-सा धन देकर नल और दमयन्ती की खोज में भेजा। उन ब्राह्मणों में से एक चेदि देश भी पहुँचा। घूमता हुआ वह राजमहल में भी आया। वहाँ अकस्मात् उसकी दृष्टि विदर्भकुमारी दमयन्ती पर पड़ी। वह ब्राह्मण दमयन्ती के भाई का मित्र था। अत: उसने तुरन्त ही वैदर्भी को पहचान लिया। उसे पहचान कर वह उसके पास गया और उससे कहा, "राजकुमारी ! मैं कुण्डिनपुर निवासी ब्राह्मण हूँ तथा तुम्हारे भाई का मित्र हूँ। मैं तुम्हें तथा महाराज नल को ढूँढ़ने के लिये ही निकला हूँ। कुण्डिनपुर में तुम्हारे दोनों बच्चे स्वस्थ हैं। परन्तु तुम्हारी विपत्ति का समाचार पाकर तुम्हारे माता-पिता अत्यन्त दुखी हैं।"

इसी समय चेदि देश की राजामाता उस स्थान पर आ गईं जहाँ दमयन्ती ब्राह्मण से चर्चा कर ही थी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि दमयन्ती कैसे एक अपरिचित पुरुष से बातें कर रही है। ब्राह्मण ने राजामाता के मुख के भावों को पढ़ लिया और उनकी शंका को दूर करते हुये उन्हें अपना और विदर्भकुमारी दमयन्ती का परिचय दिया।

दमयन्ती का वास्तविक परिचय पाकर राजामाता ने उसे गले से लगा लिया और रोने लगीं। दमयन्ती उनकी बहिन की पुत्री थी। वे दमयन्ती की मौसी थीं। दमयन्ती की सखी भी अपनी मौसेरी बहन को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई।

कुछ दिनों पश्चात् दमयन्ती मौसी से आज्ञा लेकर अपने पिता के घर आ गई। किन्तु उसका दुख दूर न हुआ। अभी तक उसके पति नल का कहीं कोई समाचार न मिल सका था।

दमयन्ती के आने के बाद विदर्भराज ने पुन: कई विद्वानों एवं अनुभवी ब्राह्मणों को बुलवाया और नल को खोजने का कार्य उन्हें सौंपा। दमयन्ती ने खोज के लिये जाते हुये ब्राह्मणों से कहा, "विप्रगण ! जहाँ कहीं भी आप मनुष्यों की भीड़ देखें, वहाँ ये वाक्य कहें – "हे निष्ठुर प्रियतम, तुम अपनी प्रिय पत्नी को सोती छोड़ कर उसका आधा वस्त्र फाड़कर कहाँ चले गये? तुमने उसे जिस अवस्था में छोड़ा था, वह आज भी उसी अवस्था में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।"

"इन वाक्यों को सुनकर जो भी पुरुष उसका उत्तर दे, उसे आप अच्छी तरह देख लें। उसके सम्बन्ध में सभी बातें ज्ञात कर लें और आकर मुझे सूचित करें।"

नल की खोज में गये हुये ब्राह्मणों में से एक राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या भी पहुँचा। वहाँ राज्यसभा में उसने वही वाक्य कहा। सभासदों में से तो किसी ने भी उसका उत्तर न दिया, किन्तु राजा के बाहुक नामक सारथी ने उसका उत्तर ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण विदर्भ लौट आया और उसने सारा समाचार दमयन्ती को सुनाया उत्तर सुनकर दमयन्ती ने अनुमान लगाया कि हो-न-हो बाहुक ही राजा नल होंगे।

अपनी माता से परामर्श कर दमयन्ती ने पुन: एक दूत को अयोध्या भेजा। अयोध्या पहुँचकर दूत ने ऋतुपर्ण को समाचार दिया कि विदर्भकुमारी के लिये पुन: स्वयंवर रचा गया है। स्वयंवर कल प्रात:काल सूर्योदय के पश्चात् होगा। यदि आप जा सकें तो अवश्य पधारें। राजा ऋतुपर्ण दमयन्ती के स्वयंवर में जाना चाहते थे। किन्तु एक ही दिन में अयोध्या से विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर कैसे पहुँचा जाय? राजा ने बाहुक से अपनी इच्छा प्रकट की उसने ऋतुपर्ण को आश्वस्त किया कि वह उन्हें एक ही दिन में विदर्भ की राजधानी पहुँचा देगा। हुआ भी वही। बाहुक ने इतनी कुशलता से रथ हाँका कि राजा एक ही दिन में अयोध्या से कुण्डिनपुर पहुँच गये।

दमयन्ती यह भलीभाँति जानती थी कि महाराज नल के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति रथ हाँककर अयोध्या से कुण्डिनपुर की दूरी एक ही दिन में नहीं तय कर सकता।

नल की यह परीक्षा के लिये ही उन्होंने अपनी माता से परामर्श कर अपने द्वितीय स्वयंवर का समाचार अयोध्या भेजा था। वास्तव में वे दूसरा स्वयंवर नहीं करना चाहती थीं। यह राजा नल को ढूँढ़ने का एक उपाय मात्र था।

दमयन्ती ने और भी कई प्रकार से बाहुक रूपी नल की परीक्षा ली। अपने बच्चों को उनके समीप भेजा और अन्त में इस निष्कर्ष पर आईं कि बाहुक राजा नल ही हैं।

शील ही दमयन्ती का धन था। परीक्षाओं द्वारा तो उसने अवश्य ही यह जान लिया कि नल ही बाहुक के रूप में सारथी का कार्य कर रहे हैं। किन्तु रूप के सम्बन्ध में अभी भी शंका रह गई थी। इस बार स्वयं दमयन्ती ने इस बात की परीक्षा करने का निश्चय किया। उसने अपनी माता से यह बात कही और उनके द्वारा पिता से अनुमति प्राप्त कर बाहुक को राजमहल के भीतर बुलवाया। वहाँ दमयन्ती पहले से ही उपस्थित थी। दुखिया दमयन्ती को देखते ही बाहुक की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। इधर दमयन्ती की भी आँखों से अश्रुप्रवाह रुकता न था। बाहुक को लक्ष्य कर दमयन्ती ने कहा – "बाहुक ! क्या तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुष को देखा है, जो अपनी सोई पत्नी को वन में अकेली निस्सहाय छोड़कर चला गया हो? न जाने मैंने

(**शेष अगले पृष्ठ पर**)

विश्वनाथ उपाध्याय घिमिरे

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

विश्वनाथ उपाध्याय ने एक दिन स्वप्न में एक महापुरुष को देखा, जो ज्योति से आवृत्त होकर बैठे थे और उन्हें संकेत के द्वारा दिव्य ज्ञान देने हेतु अपनी ओर बुला रहे थे।[१] इसके बाद विश्वनाथ बड़े चंचल हो उठे। कभी-कभी वे प्रार्थना किया करते थे कि उनका स्वप्न सत्य में परिणत हो जाय। कभी-कभी वे हृदय से कामना करते कि स्वप्न में आनेवाले महापुरुष कृपा करके उनके समक्ष साक्षात प्रकट हो जायँ। वे उद्विग्न भाव से दुबारा वही स्वप्न देखने की आशा करते थे।

इसके कुछ काल बाद ही विश्वनाथ ने दक्षिणेश्वर के एक सन्त के विषय में सुना, जो सर्वदा गहन ईश्वरीय चेतना में डूबे रहते थे और सहज तथा हृदयग्राही भाषा में गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का उपदेश दिया करते थे। वे परमहंस रामकृष्ण के नाम से सुपरिचित थे। श्रीरामकृष्ण यद्यपि उस समय केवल करीब छत्तीस वर्ष के ही थे, तथापि उसी आयु में उन्होंने न केवल समाधि की अनुभूति में पूर्णता प्राप्त कर ली थी, बल्कि एक अदम्य प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने विभिन्न मतों के द्वारा – यहाँ तक कि उन मतों के द्वारा भी ईश्वर की अनुभूति करने की चेष्टा की, जो हिन्दू विरासत के दायरे के बाहर थे। इसमें भी उन्हें पूरी सफलता हासिल हुई थी। अर्नाल्ड टायन्बी ने ठीक ही कहा है – "उनकी साधनाएँ तथा अनुभूतियाँ वस्तुत: इतनी अधिक सर्वांग-सम्पूर्ण थीं कि भारत या उसके बाहर के किसी भी अन्य धार्मिक विभूति को कभी वैसी उपलब्धि नहीं हो सकी थी।" यद्यपि श्रीरामकृष्ण भारत के तत्कालीन राजधानी के उप-नगरीय अंचल में ही निवास करते थे, तथापि यह सब कुछ मानो अज्ञात रूप से ही घटित हुआ। उन दिनों कम लोग ही उनके बारे में जानते थे और उससे भी कम लोग उनकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों का मूल्यांकन करने में सक्षम थे।

कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय नेपाल राज्य के स्वामित्व की एक विशाल लकड़ी के गोदाम के सर्वोच्च अफसर थे। यह गोदाम गंगातट पर कलकत्ते के दूसरी ओर हावड़ा जिले के घुसुड़ी ग्राम में स्थित था। विश्वनाथ ने नेपाल के उपाध्याय ब्राह्मणों के घिमिरे कुल में जन्म लिया था। उनके पिता कर्नल शिवशंकर उपाध्याय घिमिरे कलकत्ते में नेपाल सरकार के राजदूत थे। साहसी तथा ईश्वर में दृढ़ विश्वासी विश्वनाथ को पूर्वजों के विरासत के रूप में अनेक उत्तम गुण प्राप्त हुए थे। प्रतिदिन वे इतनी निष्ठा के साथ ईश्वर की पूजा करते थे कि उनकी आँखों में लालिमा आ जाती और वे मानो स्वयं में ही खो जाते। जैसा कि स्वाभाविक था वे स्वयं ही जाकर दक्षिणेश्वर के परमहंस का दर्शन करना चाहते थे।

विश्वनाथ बड़ी उत्सुकता के साथ शीघ्र ही दक्षिणेश्वर के सन्त का दर्शन करने जा पहुँचे। परन्तु वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा, उससे वे हतप्रभ रह गये। उन्हें स्वप्न में दिखनेवाले सन्त ही मानो उनके सामने बैठे हुए थे। उन्होंने भाव-विभोर होकर सन्त के चरणों में बारम्बार प्रणाम किया।[२] उनकी भावनाएँ बड़ी गहराई तक आलोड़ित हो उठीं। उनके कपोलों पर आनन्द के अश्रु बह निकले। वस्तुत: वे आनन्द में खो गये।

बड़े विस्मय की बात थी कि श्रीरामकृष्ण ने प्रारम्भ से ही उनके प्रति ऐसा व्यवहार किया मानो वे उनके कबके परिचित हों। इस प्रकार उन्होंने विश्वनाथ का हृदय पूरी तौर से जीत

पिछले पृष्ठ का शेषांश

महाराज नल का क्या अपराध किया था कि उन्होंने मुझ अबला को निर्जन वन में अकेली छोड़ दिया। स्वयंवर के समय स्वेच्छा से देवताओं को छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। अग्नि तथा देवताओं को साक्षी रख कर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा था। उनका वह सत्य कहाँ चला गया?"

इतना कहकर दमयन्ती फूट-फूट कर रोने लगी। उसका करुण विलाप और मर्मस्पर्शी शब्द राजा नल न सह सके। उनका हृदय भी द्रवित हो उठा। उन्हें दमयन्ती को अपना परिचय देना ही पड़ा। लम्बे चार वर्षों पश्चात् अपने खोये हुये पति को पाकर दमयन्ती को कितना आनन्द हुआ होगा, यह तो दूसरी दमयन्ती ही बता सकती है। हम तो कल्पना से केवल उसका अनुमान मात्र कर सकते हैं।

नल-दमयन्ती का यह आख्यान अत्यन्त प्राचीन किन्तु इसके माध्यम से दी गई शिक्षा चिर नवीन है। दाम्पत्य जीवन के सुख की आधारशिला वह निष्ठा है जो दमयन्ती की नल के प्रति थी, वह विश्वास है जो नल का दमयन्ती के प्रति था। ❑

लिया। बाद में विश्वनाथ उनके मुख से यह सुनकर मुग्ध हो गये कि साधक के जीवन के लिये सर्वाधिक आवश्यक वस्तु है शिशु के समान ईश्वर में अटूट विश्वास – कोई शिकायत नहीं और उनकी इच्छा पर निर्भरता। इसके अभाव में सारे शास्त्रीय विचार निरर्थक हैं, भले ही वे कितने भी भव्य क्यों न प्रतीत हों। अपने पढ़े हुए शास्त्रों तथा इन सन्त की वाणी के बीच काफी साम्य देखकर वे परम विस्मित हुए। विश्वनाथ उनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उस दिन वे लौटकर घर नहीं गये। वह रात उन्होंने दक्षिणेश्वर-मन्दिर के उद्यान-भवन में ही बितायी।[३] यह पहली भेंट उनके मन पर एक अमिट छाप छोड़ गयी और इसके बाद से श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धा में क्रमश: वृद्धि होती रही। प्रथम दर्शन के दिन से ही विश्वनाथ ने उन्हें एक सिद्ध महापुरुष मान लिया।[४]

यह भेंट १८७२ ई. में, या सम्भवत: उससे थोड़े पूर्व हुई होगी। यह घटना निश्चित रूप से श्रीरामकृष्ण की कलकत्ते में १८७३ ई. की जनवरी में[५] दयानन्द सरस्वती से मिलने के पूर्व ही हो चुकी थी, क्योंकि श्रीरामकृष्ण विश्वनाथ के साथ ही उनसे मिलने गये थे। श्रीरामकृष्ण विश्वनाथ को स्नेहपूर्वक 'कप्तान' के रूप में सम्बोधित करने लगे।

विश्वनाथ का जन्म नेपाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता भगवान शिव के निष्ठावान भक्त थे और निरन्तर उनके विश्वनाथ नाम का जप किया करते थे और इसी कारण उन्होंने अपने पुत्र का नाम भी 'विश्वनाथ' रखा था। भक्त-परिवार में जन्म लेने के कारण विश्वनाथ के चरित्र में भी उनके पिता के सारे गुणों का विकास हुआ। उनकी भगवद्-भक्ति के विषय में परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "कप्तान का कैसा स्वभाव है! कैसी भक्ति है! छोटी धोती पहनकर आरती करता है। पहले तीन बत्तीवाले प्रदीप से आरती करता है – इसके बाद एक बत्तीवाले प्रदीप से और फिर कपूर से। उस समय बोलता नहीं। मुझे इशारे से आसन पर बैठने के लिए कहा। पूजा करते समय आँखें लाल हो जाती हैं, मानो बर्र ने काट लिया हो। गाना तो नहीं गा सकता। परन्तु स्तवपाठ बहुत ही सुन्दर करता है। वह अपनी माँ के पास नीचे बैठता है। माँ ऊँचे आसन पर बैठती हैं। बाप अंग्रेज का हवलदार है। लड़ाई के मैदान में एक हाथ में बन्दूक रखता है और दूसरे हाथ से शिवजी की पूजा करता है। नौकर शिवमूर्ति बना दिया करता है। बिना पूजा किये जल ग्रहण भी नहीं करता। सालाना छ: हजार रुपये पाता है।"[६]

विश्वनाथ को वेदान्त, गीता तथा भागवत का अच्छा ज्ञान था, तथापि वे एक निष्ठावान ब्राह्मण थे और बड़ी भक्ति के साथ प्रतिदिन अपने इष्टदेव की पूजा किया करते थे। पूजा करते समय उनका मन आध्यात्मिक भावों में तल्लीन हो जाया करता था। विश्वनाथ की आचार-अनुष्ठानों में बड़ी निष्ठा थी। अपनी दैनिक उपासना के रूप में वे पूजा, जप, आरती, शास्त्र-आवृत्ति तथा स्तवपाठ किया करते थे। बाद में श्रीरामकृष्ण ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था – "एक और है – कप्तान। संसारी तो है, परन्तु बड़ा भक्त है।... कप्तान को वेद, वेदान्त, गीता, भागवत – यह सब कण्ठाग्र याद है।"[७] विश्वनाथ की पत्नी भी भगवान की भक्त थी। उसके विषय में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "कप्तान की स्त्री के दूसरे इष्ट देवता हैं – गोपाल।"[८] दोनों का साधु-सन्तों के प्रति बड़ा श्रद्धाभाव था।

विश्वनाथ के पहली बार दक्षिणेश्वर जाने के बाद श्रीरामकृष्ण भी उनके घर आने लगे। प्रारम्भ में वे सप्ताह में एक बार श्रीरामकृष्ण के पास जाते। बाद में श्रीरामकृष्ण भी महीने में एक बार उनके घर जाते और उनकी भक्तिमान पत्नी का बनाया हुआ भोजन ग्रहण करते। उन लोगों ने अपने सम्माननीय अतिथि की सुविधा के लिये अपने मकान की छत पर एक अस्थायी शौचालय भी बनवा लिया था।[९] इसके शीघ्र बाद ही विश्वनाथ को विश्वास हो गया कि श्रीरामकृष्ण एक महान् आध्यात्मिक विभूति – ईश्वर के अवतार हैं।

परन्तु इसके कुछ काल बाद ही विश्वनाथ बड़ी कठिनाई में पड़ गये। उनके अधीन चल रहे लकड़ी के व्यवसाय में उनके पूरे प्रयास के बावजूद कई वर्षों तक कोई लाभ नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि पिछले कई वर्षों से गंगा में उठनेवाली प्रबल ज्वार लकड़ी के बहुत-से लट्ठों को बहाकर ले जाती थी। अत: विश्वनाथ नेपाल सरकार को हिसाब जमा करने का काम टालते जा रहे थे। फिर उनके द्वारा गबन के कुछ निराधार आरोप भी नेपाल सरकार के अधिकारियों के पास पहुँचे थे और प्रधानमंत्री ने उन्हें हिसाब के साथ बुला भेजा था। विश्वनाथ आशंकित तथा किंकर्तव्य-विमूढ़ हो उठे। वे दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास गये और उनके चरणों में गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे। श्रीरामकृष्ण उन पर द्रवित हुए और उन्हें केवल सत्य को ही पकड़े रहने की सलाह दी। उन्हें आश्वस्त करते हुए वे बोले – "माँ-काली की कृपा से तुम पुन: लौट आओगे।"[१०] इस प्रकार उत्साह पाकर विश्वनाथ काठमाण्डू गये और वहाँ सारा हिसाब जमा कर दिया। प्रधानमंत्री उनकी ईमानदारी से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें क्षमा तो किया ही, साथ ही वे उन्हें कलकत्ते में नेपाल सरकार का राज-प्रतिनिधि भी नियुक्त कराने को अग्रसर हुए। इसके बाद से उनकी तनख्वाह चारगुना बढ़ गयी।[११] इसके सिवा उन्हें पदोन्नत करके कर्नल भी बना दिया गया। घटनाओं के इस उलटफेर पर विश्वनाथ बड़े प्रसन्न थे। कलकत्ता आते ही वे श्रीरामकृष्ण से मिलने गये और उन्हें सब कुछ सूचित किया। जब उन्होंने बताया कि अब वे कप्तान नहीं रहे, बल्कि कर्नल बन गये हैं, तो श्रीरामकृष्ण जोर से हँसे और बोले – "यह क्या है?" इस शब्द की व्याख्या किये जाने पर वे विश्वनाथ से बोले – "वह

सब ठीक है, परन्तु मैं तो तुम्हें 'कप्तान' ही कहूँगा।''[१२]

विश्वनाथ एक सच्चे साधक थे और वे प्राय: दक्षिणेश्वर आकर श्रीरामकृष्ण के विभिन्न भावों सूक्ष्मता तथा सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया करते थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण को लगातार तीन दिनों तक समाधि में डूबे देखा था। उन्होंने अपने स्वयं के अनुभव का उपयोग करते हुए श्रीरामकृष्ण को समाधि अवस्था से उतारने का प्रयास किया। उन्होंने बाद में बताया था – ''उस प्रकार दीर्घकाल-व्यापी गहरी समाधि के समय उनके श्रीअंग में – गर्दन से मेरुदण्ड के नीचे के हिस्से तथा घुटने से पैर के तलवे तक ऊपर से नीचे की ओर – बीच-बीच में गाय के घी की मालिश की जाती थी। उसके फलस्वरूप समाधि की उच्च भावभूमि से 'मैं-मेरा' के राज्य में पुन: अवतरण करने में उन्हें सुविधा होती थी।''[१३] श्रीरामकृष्ण ने स्वयं भी कहा था – ''पहले उसने हठयोग किया था, इसलिए जब मुझे समाधि या भावावस्था होती है तब सिर पर हाथ फेरने लगता है।''[१४] फिर वे कहते हैं – ''मेरी अवस्था के सम्बन्ध में कप्तान ने कहा, 'यह आसमान में चक्कर मारनेवाला भाव है।' जीवात्मा और परमात्मा, जीवात्मा एक पक्षी है और परमात्मा आकाश – चिदाकाश। कप्तान कहता है, 'तुम्हारा जीवात्मा चिदाकाश में उड़ जाता है, इसीलिए समाधि होती है।' ''[१५]

विश्वनाथ समस्त अहिन्दू धार्मिक परम्पराओं के विरोधी थे। केशव चन्द्र सेन अंग्रेजों के साथ बैठकर भोजन करते थे और उन्होंने अपनी पुत्री का भिन्न जाति में विवाह कर दिया था। कप्तान पुरानी परम्पराओं के दृढ़ समर्थक होने के कारण श्रीरामकृष्ण का उनके यहाँ जाना पसन्द नहीं करते थे।[१६] श्रीरामकृष्ण यदि दो-एक अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण कर देते, तो भी वे झल्ला उठते और श्रीरामकृष्ण के युवा भक्तों की इस कारण निन्दा करते कि वे लोग अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ते हैं और खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं करते।[१७] परन्तु ऐसे लोगों के प्रति उनके दृष्टिकोण को उदार बनाने के लिये श्रीरामकृष्ण ने बड़े धैर्यपूर्वक प्रयास किया और क्रमश: इसका उल्लेखनीय परिणाम भी हुआ।

श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क ने विश्वनाथ के सामाजिक दृष्टिकोण को तो बदल ही डाला था, साथ ही उनके आन्तरिक जीवन को मूल रूप से प्रभावित किया था। वे उन गिने-चुने परम भाग्यवानों में से एक थे, जो इतने दीर्घ काल तक श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष प्रभाव में रहे। वस्तुत: हम उन्हें १६ अगस्त १८८६ ई. को श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के अवसर पर भी उनकी शय्या के पास उपस्थित देख पाते हैं। यद्यपि कप्तान उनकी अन्तिम समाधि आरम्भ होने के लगभग सात घण्टे बाद ही उनके कक्ष में पहुँच सके थे, तथापि उन्होंने तत्काल देखा कि शरीर में अब भी थोड़ी गर्मी विद्यमान है और वे उनके मेरुदण्ड की मालिश करने लगे। उन्होंने भक्तों से कहा कि वे लोग हताश न होकर प्रतीक्षा करें। इसके पाँच घण्टे बाद ही डॉक्टर ने आकर निश्चयपूर्वक बताया कि उन्होंने आधे घण्टे पूर्व देहत्याग कर दिया है।[१८]

श्रीरामकृष्ण के साथ इस सुदीर्घ सम्पर्क ने भक्त के बाह्य जीवन में कोई विशृंखला लाये बिना ही उनके आन्तरिक जीवन का रूपान्तरण कर दिया था। इससे उनके जीवन में उत्कृष्टता तथा परिपूर्णता आ गयी थी। उनकी इस प्रगति को देखकर १८८४ ई. के मार्च में श्रीरामकृष्ण ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा था – ''कप्तान का स्वभाव अब अच्छा हो गया है। जब पूजा करने बैठता है तब बिल्कुल ऋषि की तरह जान पड़ता है। इधर कपूर की आरती और बहुत ही सुन्दर स्तव-पाठ करता है। पूजा करके जब उठता है, तब भाव के कारण उसकी आँखें सूज जाती हैं, मानो चींटियों ने काटा हो। और सारे समय गीता, भागवत यही सब पढ़ता रहता है।''[१९]

वैसे श्रीरामकृष्ण कप्तान की विद्वत्ता की प्रशंसा करते थे, पर कभी-कभी वे शास्त्रों के मर्म को समझने में उनकी भूलों का सुधार भी किया करते थे। पढ़ाई पर बहुत जोर देने के कारण एक बार उन्होंने कप्तान को फटकारा भी था – ''पढ़कर ही तुमने सब मिट्टी में मिलाया, अब हरगिज न पढ़ना।''[२०]

अपनी सुनिश्चित उन्नति होते देखकर विश्वनाथ को कलकत्ते के लोगों पर तरस आता था कि वे लोग श्रीरामकृष्ण की महानता को नहीं समझ सके थे। श्रीरामकृष्ण स्वयं ही बोले – ''कप्तान ने बंगालियों की निन्दा की। कहा, 'बंगाली बेवकूफ हैं। पास ही मणि है और उन लोगों ने न पहचाना!' ''[२१]

फिर कप्तान जब अपने जीवन की परिपूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे थे, तो उन्होंने श्रीरामकृष्ण के विषय में अपने भावों को खुले-आम अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया। एक दिन जब श्रीरामकृष्ण ने विश्वनाथ का रामचन्द्र दत्त से परिचय कराया, तो वे श्रीरामकृष्ण के बारे में अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण बताने लगे – ''मैंने वेद-वेदान्त का काफी अध्ययन किया है। मैं विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार के अनेक साधु-सन्तों से भी मिल चुका हूँ। परन्तु उनके (श्रीरामकृष्ण) के सम्पर्क में आने के बाद आध्यात्मिक भूख को परितृप्ति मिल गयी। मैं और अधिक क्या कहूँ! जो कुछ वेदों में नहीं मिलता, वह उनमें मिलता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों तथा अन्य सभी शास्त्रों में जिन सत्यों का निरूपण किया गया है, वे उनकी प्रतिमूर्ति थे। शास्त्रों के वे जीवन्त प्रमाण थे।''[२२]

सन्दर्भ-सूची –

१. इस घटना का वर्णन गुरुदास बर्मन के 'श्रीरामकृष्ण चरित' (भाग १, पृ.१४३-४) तथा अक्षय कुमार सेन की 'श्रीरामकृष्ण पुँथी' (५म सं., पृ.२५५) से लिया गया है। रामचन्द्र दत्त के (श्रीश्री रामकृष्ण

(**शेष अगले पृष्ठ पर**)

न मे भक्तः प्रणश्यति (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता में श्री अरुण चूड़ीवाल जी के आग्रह पर दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

व्यावहारिक दृष्टि से सोचने पर मनुष्य का व्यक्तित्व बहु-आयामी होता है। हमलोगों का यह जो बाह्य व्यक्तित्व, शारीरिक व्यक्तित्व है, जिसे हम-आप देख रहे हैं, आप मुझे देख रहे हैं, मैं आप लोगों का दर्शन कर रहा हूँ। यह सब है। किन्तु यदि हम साधना की दृष्टि से विचार करें, तो हमारा जो मूल व्यक्तित्व है, जो सत्य है, वह है चित्त। पाश्चात्य दर्शन में चित्त की धारणा नहीं है। वे 'माइण्ड' केवल मन तक ही जानते हैं। वे 'माइण्ड स्टक' ऐसा एक शब्द का व्यवहार करते हैं। मनुष्य की नीचता या उच्चता चित्त पर निर्भर करती है – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** – मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण है। मनुष्य के बन्धन या मुक्ति का कारण क्या है? मन ही है। तो भगवान अब हमसे कह रहे हैं – तूने कुछ भी किया हो, किसी भी प्रकार का पाप तूने जीवन में किया हो, उसकी चिन्ता मत कर – माम् अनन्यभाक् भजस्व – तू अनन्य भाव से मेरा भजन कर।

भगवान के गुणों की एक बहुत बड़ी विशेषता है और वह यह है कि भगवान किसी व्यक्ति का भूतकाल नहीं देखते। आप हम सभी लोग जो भक्ति के मार्ग पर चलने की इच्छा रखते हैं, उन सबके लिए यह बहुत बड़ा आश्वासन है। अगर भगवान हमारा भूतकाल देखें, तो हममें से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो भक्त हो सके। सामान्य मनुष्य तो सबका भूतकाल ही देखते हैं। मान लीजिये कोई कहता है – अच्छा स्वामीजी ! आप कलकत्ता आए हैं न ! हरिबाबू को आप जानते हैं न, देखिए उन्होंने इतना दान किया, नेत्रयज्ञ कराया। हम कहते हैं – अरे रखो उनका नेत्रयज्ञ, मैं उनको बीस बरस से जानता हूँ, उन्होंने क्या-क्या कर्म किए हैं। तुम जानते नहीं हो। बीस वर्ष तक उन्होंने क्या किए हैं, वही हम देखते हैं। वर्तमान में इतना दान किया, नेत्रयज्ञ किया, कितने ही लोगों के आँखों का आपरेशन करा दिए, यह हमारे ध्यान में नहीं आता। हरिबाबू ने पिछले बीस वर्षों में बीस हजार सत्कर्म किए होंगे, हम उनके बीस हजार सत्कर्मों को भी भूल जाते हैं और कभी कोई एक दो भूलें किसी कारण से हो गयी होंगी, तो उसको याद रखते हैं। किन्तु भगवान की कृपा या विशेषता यह है कि वे मनुष्य का भूतकाल नहीं देखते। भगवान केवल वर्तमान देखते हैं। भगवान भूत में हो नहीं सकते। जो भूतकाल में था और आज नहीं है, तो वह भगवान कैसा? भगवान तो शाश्वत हैं। मन-बुद्धि से परे हैं। भगवान के लिये कूटस्थ शब्द का प्रयोग होता है, जो

पिछले पृष्ठ का शेषांश

परमहंसेर जीवन-वृत्तान्त) तथा सुरेशचन्द्र दत्त के (श्रीश्री रामकृष्ण लीला) विवरण कुछ भिन्न हैं और कम विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।
२. अक्षय कुमार सेन, वही, पृ. २५५
३. श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५६८
४. शशीभूषण घोष, श्रीरामकृष्ण देव, (उद्बोधन का., बंगाब्द १३३२, पृ. ३४० (पाद टिप्पणी)
५. यह स्पष्ट ज्ञात है कि दयानन्द ने दिसम्बर १८७२ से अप्रैल १८७३ तक कलकत्ते में निवास किया था (द्र. रोमाँ रोलाँ, श्रीरामकृष्ण की जीवनी, अद्वैत आश्रम, मायावती)। 'वचनामृत' (भाग २, पृ. ७०५) के वर्णन में है कि कप्तान भी साथ में थे। फिर श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि दयानन्द बड़ी उत्सुकता के साथ केशव की प्रतीक्षा कर रहे थे। अतः करीब-करीब निश्चित रूप से यह घटना जनवरी १८७३ में हुई थी। यहाँ उल्लेखनीय है कि अक्षय कुमार सेन (पूर्वोद्धृत) ने विश्वनाथ के ठाकुर से प्रथम भेंट को काफी बाद का समय (१८७९) दिया है, परन्तु उपरोक्त प्रमाण उसे अमान्य कर देता है। मूल बँगला 'वचनामृत' की भूमिका में श्री 'म' ने कुछ बाद के ही समय का संकेत दिया है (१८७५ ई. में श्रीरामकृष्ण के प्रथम बार केशव के पास जाने के कुछ काल पूर्व); परन्तु यह भी पूर्णतः ठीक नहीं लगता।
६. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ६१४
७. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७६०
८. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ६१५
९. रामचन्द्र दत्त, (पूर्वोद्धृत), ७ वाँ सं., पृ. १०४
१०. वही, पृ. २१०; ११. अक्षय कुमार सेन, (पूर्वोद्धृत), पृ. २८२
१२. गुरुदास बर्मन, (पूर्वोद्धृत), पृ. २३४-५। श्रीरामकृष्ण तथा इस भक्त के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध के उदाहरण के रूप में बताया जा सकता है कि जब एक भक्त ने दक्षिणेश्वर-मन्दिर के निकट ही श्रीमाँ सारदा देवी के लिये एक कुटीर बनवाना आरम्भ किया, तो विश्वनाथ ने उस कार्य के लिये सारी लकड़ी देने की व्यवस्था की थी। (स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड १, प्रथम सं., पृ. ४५५-६
१३. स्वामी सारदानन्द, (पूर्वोद्धृत), खण्ड २, पृ. ५०
१४. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ६१४-१५
१५. वही, द्वितीय भाग, पृ. ९३९ (१३ जून १८८५)
१६. वही, द्वितीय भाग, पृ. ७६१ (२६ अक्तूबर १८८४)
१७. वही, द्वितीय भाग, पृ. ९३८ (१३ जून १८८५)
१८. Life of Sri Ramakrishna, Mayawati, 1964, p. 596
१९. वचनामृत, प्रथम भाग, पृ. ४७५ (२३ मार्च १८८४)
२०. वही, द्वितीय भाग, पृ. ९३९ (१३ जून १८८५)
२१. वही २२. गुरुदास बर्मन, (पूर्वोद्धृत), पृ. २३८

सर्वथा अवस्थित है। जो भूतकाल में जैसा था, वर्तमान में वैसा ही है और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा, इसे ही कूटस्थ कहते हैं, वह प्रत्येक स्थिति में, एकरस रहता है। इस प्रकार मनुष्यों को भगवान आश्वासन देते हैं कि तू वर्तमान में मेरा अनन्य भाव से भजन कर।

अनन्य भाव से भजन करने के बाद दूसरा महत्वपूर्ण विशेषण भगवान यहाँ लगाते हैं – "सम्यक् व्यवसितो हि स:"। संस्कृत में व्यवसित कहते हैं – निश्चय करने को। ऐसा निर्णय जो पूर्णत: या सर्वथा उचित हो, उसे सम्यक् कहा जाता है, जिसमें कोई असमानता न हो। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने अपने अष्टांग योगों में सम्यक् आचार, सम्यक् विचार, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् चिन्तन, सम्यक् चरित्र आदि की बात कही है। अर्जुन से भगवान कहते हैं कि देख, तू पहले यह निश्चय कर। क्या? जो मैंने तुम्हें बताया है कि चाहे दूराचारी ही क्यों न हो या जो भी हो, मेरा भजन करने का निश्चय कर। हम भी अपने जीवन में यह निश्चय करें कि आज तक जो कुछ हुआ, उसे मैं भूल जाऊँ और आज से यह प्रण कर लूँ कि मन लगे चाहे न लगे, कुछ भी हो जाय, दुनिया इधर से उधर हो जाय, जब तक मैं जीवित रहूँगा, जब तक मुझे श्वास लेना पड़ेगा, तब तक मैं भगवान का भजन करूँगा। जिस प्रकार बिना श्वास लिए व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। उसी प्रकार मैं भी अपनी एक-एक श्वाँस से भगवान का भजन-स्मरण करूँगा। हमारे संघ के एक बहुत पुराने स्वामीजी थे। वे कहा करते थे – (You must be regular in your sprituality like breathing) – अर्थात् श्वास-प्रश्वास की तरह तुम्हें अपनी आध्यात्मिक साधना में नियमित होना चाहिये। जैसे जन्म से मृत्यु तक कभी हमें ऐसा तो नहीं लगता कि अरे भाई, पचहत्तर साल से साँस ले रहे हैं, अब एक सितम्बर से छुट्टी करें। जरा, एकाध महीने साँस न लें, फेफड़ों को थोड़ा आराम दें, क्या ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता है। अत: हमारे जीवन में भी निरन्तर भगवान का भजन और उनका स्मरण चलते रहना चाहिये। इसलिये भगवान कहते हैं, सम्यक् निश्चय कर। क्या सम्यक् निश्चय करना चाहिए? इसे दूसरे अध्याय में भगवान ने स्पष्ट रूप से समझाया है। वे कहते हैं, अर्जुन, यह संसार कैसा है, तू इसको समझ ले और इसको समझकर अपने विचारों में परिवर्तन कर। मनुष्य के जीवन में परिवर्तन विचारों से आता है, केवल व्यवहार से नहीं। हमारे व्यवहारों के पीछे एक विचार होता है, एक चिन्तन होता है, उसके कारण हमारे जीवन में ये परिवर्तन आते हैं।

नौवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को कहा था कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता – **न मे भक्त: प्रणश्यति**। उस भूमिका में दूसरी बात उन्होंने सम्यक् निश्चय की कही थी कि यह निश्चय कर लो कि अब अनन्य भाव से मेरा भजन करोगे। हम अनन्य भाव से भजन कब शुरू करते हैं? जब हमें यह ज्ञात हो जाय कि यह वस्तु हमारे लिए कल्याणकारी है, तब हम उसके सेवन की चेष्टा करते हैं। मान लो किसी व्यक्ति को गठिया का रोग हो गया है, कमर, घुटने, हाथ-पैर में दर्द है। किसी वैद्य ने उस रोगी को दवा देकर कहा कि, इस दवा के सेवन से तुम्हारा दर्द दूर हो जायेगा, तुम चलने-फिरने लगोगे, अपना सब काम कर सकोगे और जब तक जीवित रहोगे चल फिर सकोगे, किन्तु शर्त यह है कि यह दवा तुम्हें रोज खानी पड़ेगी। और एक-दो नियम पथ्य-परहेज आदि बता दिया कि खट्टा मत खाना, यह-वह न करना। तो अब मुझे क्या करना है? मुझे यह सम्यक् निश्चय कर लेना पड़ेगा कि जब लोग मुझे व्याख्यान के लिये बुलाते हैं, तो मैं पचासों जगह यात्रा पर तो जाऊँगा, लेकिन साथ में यह दवा भी अवश्य साथ में ले जाऊँगा। भले ही कभी ऐसा हो कि एक बार मेरी चप्पल छूट जाय, जूता छूट जाय, सेविंग सेट छूट जाय, आठ दिन बाद आकर फिर नाई से दाढ़ी बनवा लूँगा, किन्तु जो दवा मुझे वैद्यराज जी ने दिया है, जिससे मुझे लाभ हुआ, और वैद्यराज ने कहा है कि एक दिन भी वह दवा बन्द नहीं होनी चाहिये, तो मैं जहाँ भी जाऊँगा अपने साथ वह दवा अवश्य ले जाऊँगा। यह है सम्यक् निर्णय। अत: आपको हमको भगवान यह आदेश देते हैं कि पहले तुम यह सम्यक् निर्णय करो कि तुम मेरा भजन करोगे।

जीवन में ऐसी कुछ घटनायें हुईं जिससे हमलोगों का मन थोड़ी देर में फिर विचलित हो गया, दुखी हो गया। उस दुख से बचने के लिये, उन दुखों को दूर करने का जो उपाय आज तक हमने अपने जीवन में किया, वे सफल नहीं हुए। थोड़े से दु:ख कम अवश्य हुए, किन्तु दुखों से सर्वथा मुक्ति नहीं मिली और हम तो दु:खों से सर्वथा मुक्ति चाहते हैं। अत: हमें यह निश्चित रूप से जान लेना पड़ेगा कि ईश्वर की भक्ति को छोड़कर दुखों से मुक्त होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा मैं संसार के दुखों से सदा के लिए मुक्त हो जाऊँ। यह मेरी बात नहीं है। गीता में भगवान स्वयं अर्जुन को बता रहे हैं –

अनित्यं असुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम् ।।९/३३

इसको यदि हम इसी अध्याय के तीसवें श्लोक से मिला लें, – भजते माम् अनन्य भाक्, – 'जो मेरा अनन्य भाव से भजन करते हैं, उन्हें साधु ही समझो', तो इसका तात्पर्य अधिक स्पष्ट होगा। यहाँ भी भगवान भजन करने की आज्ञा देते हैं। क्यों भजन करने को कहते हैं? क्योंकि यह लोक, यह संसार अनित्य और सुखरहित है। लोक या संसार का क्या अर्थ है? सबका अपना-अपना संसार है। आपका अपना संसार है। मेरा अपना संसार है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना संसार है। इसे जब हम ठीक-ठीक समझ लेंगे तो भजन अपने आप होने लगेगा। एक संसार तो यह है कि जो हम-सब देख

रहें हैं। दूसरा संसार जो मेरे मन के भीतर है, उसे मुझे और परमात्मा को छोड़कर कोई नहीं जानता। ऐसा कभी सम्भव नहीं है कि मैं अपने भीतर के संसार को भूल जाऊँ। बाहर के संसार को तो भूल सकता हूँ, किन्तु भीतर के संसार को नहीं। मान लीजिये कोई व्यक्ति तीस वर्ष बाद कलकत्ता आवे, तो हो सकता है कि वह कलकत्ते के बहुत स्थानों को भूल गया हो, रास्ते नये हों, बहुत से व्यक्तियों के नाम को भूल गया हो। बाहर के रास्ते को, बाहरी संसार को तो हम यदा-कदा भूल सकते हैं। व्यक्ति नींद में, नशे में भूल जाता है। परन्तु भीतर के संसार को कभी नहीं भूल सकता। वह भीतर का संसार ही असली संसार है, जो हमें सुख-दुख देता है। इसीलिये भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि अर्जुन सुनो, यह बाहर और भीतर का संसार कैसा है? – अनित्यम् असुखम् लोकं – यह संसार अनित्य और सुखहीन है। यदि ऐसा है, तो इसे प्राप्त कर क्या करें? 'इमं प्राप्य भजस्व माम्' – इसे प्राप्त कर मेरा भजन करो।

अब आइए, हम थोड़ी सी इस पर और चर्चा करें और विचार करके देखें कि भक्त का कैसे नाश नहीं होता तथा हम कैसे इसे अपने जीवन में काम में ला सकते हैं, क्योंकि भगवान कहते हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' – मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। एकमात्र ईश्वर, भगवान या परमात्मा को छोड़कर संसार में सभी चीजें नाशवान हैं। संसार के दुःखों का कारण है नाशवान वस्तुओं में अविनाशी सुख प्राप्त करने की कामना। इस नाशवान संसार में उस अविनाशी वस्तु परमात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा का नाम ही साधना है। एकदम सीधी सरल बात है। मुझसे किसी पाण्डित्य की आशा न रखें। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि जीवन में जिससे चेतना जागे हमें उसका प्रयत्न करना है।

हम हमेशा मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष में व्यवहार करते हुये कहते हैं – अरे भाई, क्या करोगे, व्यापार में तुमको इतना घाटा हो गया। यह संसार ऐसा ही है। ईश्वर न करें कि ऐसा हो, यदि कहीं किसी की माँ की मृत्यु हो गई, किसी के पुत्र की मृत्यु हो गयी, पुत्र शोक हो गया तो हम उपदेश देते हैं कि अरे भाई, यह संसार तो नश्वर है, ऐसा इसमें होते ही रहता है। जीवन में उतार-चढ़ाव आते-रहते हैं। तब यह संसार हमें नाशवान लगता है। किन्तु, जब उत्तम पुरुष में घटनायें घटती हैं, तब? मान लीजिये, मैं नाखून काटने बैठा हूँ। नाखून काटते-काटते ऊँगली का थोड़ा-सा मांस कट गया, तब मुझे पता लगता है कि संसार नाशवान है कि संसार शाश्वत है। उस समय तो संसार नाशवान नहीं लगता। थोड़ा सा नेल-कटर से कटा है, अभी चार ऊँगलियों के नाखून काटना बाकी है। मैं तुरन्त नेलकटर फेंककर दौड़कर घर में जाकर अगर उसकी कोई दवा हो, आयोडिन हो, तो उसे लगाता हूँ। यदि सुविधा हो तो डॉक्टर को फोन करता हूँ कि अरे भई, मेरी छोटी ऊँगली में नाखून काटते समय लग गया, बड़ा कष्ट हो रहा है, आकर थोड़ा देख लीजिये। इतना सब मैं करता हूँ। तब तो यह शरीर हमें नाशवान नहीं लगता है। इसलिये हमें उत्तम पुरुष में स्वयं इस संसार की अनित्यता का बोध करना होगा।

संसार में क्या नाशवान नहीं है? संसार का सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसीलिये गीता में भगवान इस संसार को अनित्य कहते हैं। भगवान ने संसार को मिथ्या नहीं कहा है, इसे अनित्य कहा है। इस संसार में मेरा जन्म हुआ है, इसलिये यह हमें प्राप्त हुआ है। अतः इस अनित्य संसार को प्राप्त कर भजस्व माम् – मेरा भजन करो।

लेकिन हम उलटा करते हैं, हम भगवान के भजन को तो छोड़ देते हैं और अनित्य दुखमय इस संसार को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। हम प्रयत्न कैसे करते हैं? जैसे हमारे द्वारा हवा को मुट्ठी में पकड़ने का प्रयत्न करना जितना असम्भव है, उतना ही असम्भव है संसार में इन्द्रियों द्वारा मिलने वाले सुख को शाश्वत समझना। यह सांसारिक सुख कभी भी स्थायी नहीं रहेगा। पर यह बात हमारे मन में कभी नहीं आती। इसीलिये भगवान अपनी कृपामयी वाणी से हमें सावधान करते हुये कहते हैं कि संसार का उपभोग मत करो, इसका उपयोग कर लो। कैसे? मेरा भजन करके।

अब थोड़ा उपयोग और उपभोग को समझने का प्रयास करें। मान लीजिए अभी मुझे आश्रम जाना है। रास्ते में गाड़ी बिगड़ गई। ड्राइवर मुझसे कहता है कि महाराज, यदि आप कहें, तो मैं धीरे-धीरे दस किलोमीटर की गति से चलकर आपको आश्रम पहुँचा दूँ, क्योंकि इससे अधिक गति से गाड़ी अभी नहीं चल सकती। तो मैं कहता हूँ, हाँ भैया, धीरे-धीरे ही चलो, हमको कोई जल्दीबाजी नहीं है। ऐसा करके मैं थोड़ी देर से आश्रम पहुँच गया। तो इस प्रकार मैंने गाड़ी का सदुपयोग कर लिया। अब दूसरा उपाय है हजार गालियाँ गाड़ी बनाने वाले को दी, पचीस-पचास गाली ड्राइवर को दी, फिर जिसने मुझे यह गाड़ी दी भले ही मुँह से कुछ न कहूँ पर मन-ही-मन पचासों गालियाँ उस भक्त को दी – सड़ी गाड़ी में मुझको भेज दिया, मैं यहाँ रास्ते में फँस गया। ऐसे क्रोध और खिन्नता से मेरा क्या लाभ हुआ? इससे लगता है कि मैं गाड़ी का उपभोग करना चाहता था, इसलिए मुझे कष्ट हुआ कि यदि फर्स्ट क्लास ए.सी. मर्सिडीज में मुझे भक्त ने भेजा होता तो आनन्द से मैं पहुँचता। यह उपभोग हुआ उपयोग नहीं। ठीक ऐसे ही इस अनित्य संसार में भगवान को प्राप्त करके इस दुखमय संसार से सदा के लिये मुक्त हो जाना ही इसका उपयोग कर लेना है।

❖ (क्रमशः) ❖

पर उपदेश कुशल बहुतेरे

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

गोस्वामी तुलसीदास जी की एक चौपाई का लोग काफी हवाला देते हैं - "**पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे**।" इसका सरल अर्थ है – "दूसरों को उपदेश देने में तो बहुत लोग निपुण होते हैं, पर ऐसे लोग अधिक नहीं जो उपदेश के अनुसार आचरण भी करते हैं।" जिस सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने यह बात कही है, वह हम पर भी घटता है। रावण अपने पुत्र मेघनाद का वध सुनकर मूर्छित हो जाता है। जब उसकी मूर्छा टूटती है, तो अपनी स्त्रियों को विलाप करते देखता है। तब रावण जाकर उनको संसार की विनश्वरता का उपदेश देता है। गोस्वामाजी इस सन्दर्भ में वह चौपाई लिखते हैं, जिसकी चर्चा मैंने प्रारम्भ में की।

हम भी दूसरों को उपदेश देने के लिए कदम बढ़ाये रखते हैं, पर अपनी नसीहत का लाभ हम स्वयं नहीं उठा पाते। इस सन्दर्भ में एक घटना याद आती है। भिलाई में वह घटी थी। बच्चों के स्कूल से लौटने का समय हो गया था। इतने में एक ने आकर एक घर में सूचना दी कि उनके यहाँ का लड़का दुर्घटनाग्रस्त हो गया है और दुर्घटना में उसके प्राण-पखेरू उड़ गये हैं। पोस्ट-मार्टम के बाद उसका शव लाया जा रहा है। परिवार पर तो कहर छा गया। माता शोकावेग में मूर्छित हो गयी। होश आने पर छाती पीट-पीटकर रोने लगती। पड़ोसिनें आकर तरह-तरह से समझाने लगीं। कहने लगीं - "बहन, धीर धरो, अपने दूसरे बच्चों को देखो। भगवान ने दिया था, उसी ने ले लिया" – आदि, आदि।

इतने में शव आ गया। लड़के की माँ एकदम उस पर झपट पड़ी। ऊपर की चादर हटाकर वह अपने बच्चे के शव को गोद में लेने ही वाली थी कि एक अचम्भा घट गया। उसने देखा कि लड़का उसका नहीं है, बल्कि पड़ोसिन का है, जो अब तक उसे तरह तरह से समझा रही थी। अब क्या था, दृश्य ही बदल गया। समझाने वाली पड़ोसिन पछाड़ खाकर गिर पड़ी और अब यह माता उसे समझाने लगी।

तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं अपनी बात में आस्था नहीं होती। हम दूसरों के सामने तो बड़ी-बड़ी बातें कह देते हैं, पर जब हमारे सामने एक छोटी-सी बात को कार्य में उतारने का प्रश्न आता है, तो हम मुकर जाते हैं। जैसे, एक बार मैं अस्वस्थ हो गया। वात ने मेरे पैर को अचल बना दिया। चल नहीं पाता था। लोग बिना माँगे 'प्रिस्क्रिपशन' बताया करते थे। मैं रोग से जितना परेशान नहीं था, उससे अधिक तो इन प्रिस्क्रिपशन-दाताओं से हो गया। कोई आयुर्वेदिक नुस्खा बताये, तो कोई होमियोपैथिक, कोई एलोपैथिक तो कोई नेचरोपैथिक। मैंने हर प्रिस्क्रिपशन बतानेवाले से पूछा कि उसने क्या स्वयं उस दवा से लाभ उठाया है ! पर एक भी ऐसा न मिला, जिसे दवा का खुद का अनुभव रहा हो।

यह हमारी मनोवृत्ति है। यह सहानुभूति प्रकट करने का सबसे सस्ता तरीका है। न टेंट से कुछ जाता है, न इधर उधर जाने में हमारी चप्पल घिसती है। मुँह से बोलकर बस छुट्टी। शायद हमारी इसी मनोवृत्ति को देखकर शायर ने फिकरा कसा होगा - "मुसीबत का एक एक से बयाँ करना, है यह मुसीबत मुसीबत से ज्यादा !"

मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'बड़े भाई साहब' में इस मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र खींचा है कि कैसे साल दर साल फेल होनेवाला बड़ा भाई अपने होशियार छोटे भाई को अनावश्यक उपदेश देता रहता है, पतंग लड़ाने और कटी पतंग के पीछे दौड़ने के खतरे सुनाता रहता है, और उसी समय जब एक पतंग कटकर गिरती है, तो स्वयं उसके पीछे पकड़ने के लिए दौड़ लगा देता है। मतलब यह कि दूसरों को बिना माँगे उपदेश देना, न केवल उनका समय बर्बाद करना है वरन् अपना भी। ऐसा करके हम अपने को हल्का बना लेते हैं। यही नहीं, बल्कि कभी कभी हँसी का पात्र भी। हमारे एक परिचित को उनकी इसी आदत के कारण 'उपदेशानन्द' का खिताब ही मिल गया है। लोग उन्हें देखते ही हँसने लगते हैं और वे यदि कोई गम्भीर बात भी कहें, तो भी उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। इसका दोष स्वयं उन पर है।

अतएव हमें ऐसी आदत बनानी चाहिए कि हम वही बोलें, जिसका हमें अनुभव है, अपने को व्यर्थ ज्ञानी या दूसरों से ऊँचा दिखाने की कोशिश न करें, दूसरों की वेदना में केवल शब्द सहानुभूति न प्रकट करें, बल्कि सही अर्थों में उनके कुछ काम आने की चेष्टा करें। इससे हमारे चरित्र का विकास होगा। ❖❖❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर
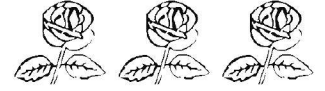
१६४. गुणग्राहकता दुर्लभ गुण है

एक चित्रकार की प्रशंसा सुनकर सिकन्दर ने उसे बुलाकर अपने सबसे प्रिय घोड़े का चित्र बनाने को कहा। चित्रकार अपनी कला में बड़ा ही पारंगत था। उसकी देश-विदेश के नामी चित्रकारों में गणना हुआ करती थी। उसने देखते-ही-देखते कैनवास पर घोड़े का हूबहू चित्र बनाकर प्रस्तुत कर दिया। चित्र इतना जीवन्त था कि सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। सिकन्दर भी मन-ही-मन बेहद प्रसन्न हुआ। मगर उसका दम्भ आड़े आया और उसने चित्र में दोष बताने शुरू किये। चित्रकार को बुरा लगा; उसने कहा, ''हुजूर, माफ करें, मेरी कला का उचित मूल्यांकन बादशाह नहीं, बल्कि कोई घोड़ा ही कर सकता है। सिकन्दर ने इसे अपना अपमान समझा, तथापि उसे कुतूहल हुआ कि कोई घोड़ा भला चित्र का मूल्यांकन कैसे कर सकता है ! उसने अश्वशाला से एक घोड़ा लाने का आदेश दिया। घोड़े ने ज्योंही चित्र को देखा, त्योंही वह जोर-जोर से हिनहिनाने लगा और उस पर हमला करने के लिये रस्सी से मुक्त होने की चेष्टा करने लगा। तब सिकन्दर ने कहा, ''मैं जानता था कि मूक पशु कभी किसी कलाकृति का मूल्यांकन नहीं कर सकता, परन्तु तुम्हारे कहने पर मैं इसका सत्यापन करना चाहता था। क्या घोड़े का हिनहिनाना ही तुम्हारी दृष्टि से मूल्यांकन है?''

''हाँ हुजूर, घोड़े ने हिनहिनाकर और हलचल करके चित्र का मूल्यांकन कर दिया है। कोई भी प्राणी स्वजातीय को सामने देखकर शान्त नहीं रह सकता। इस घोड़े ने चित्र के घोड़े को असली घोड़ा समझा और उसने झपट्टा मारकर अपने को मुक्त करना चाहा। क्या यह चित्र का मूल्यांकन नहीं हुआ। सिकन्दर मन-ही-मन लज्जित हुआ, मगर ऊपरी तौर पर उसने कहा, ''मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था कि चित्र में खामियाँ निकालने पर तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया होती है। सचमुच, तुम्हारी चित्रांकन जीवन्त है।'' और उसने पुरस्कार रूप में उसे अशर्फियों से भरी थैली देने का आदेश दिया।

किसी भी कलाकार को अपनी कला में पारंगत होने के लिये दीर्घकाल तक कठोर साधना करनी पड़ती है। अपनी साधना में सफल होने के बाद जब वह अनुपम कलाकृति का सृजन करता है, तो वह रसिकजनों से प्रशंसा की अपेक्षा करता है। उसको मिलनेवाली यह प्रशंसा उसके लिये टॉनिक का काम करती है और अपनी कला में और भी निखार तथा उत्कृष्टता लाने में उसे प्रोत्साहित करती है।

१६५. ब्राह्मणत्व का गुण

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी एक बार अपने गृहग्राम गये। एक दिन स्नानादि से निवृत्त होकर, जब वे खेत की ओर जाने लगे, तो रास्ते में उन्हें एक महिला की चीख सुनाई दी। पास जाने पर उन्हें पता चला कि महिला को एक साँप ने काटा है। उन्होंने अपनी जेब से चाकू निकाला और तुरन्त साँप द्वारा काटे हुये स्थान पर चीरा लगाकर दूषित रक्त को बाहर निकाल दिया। इसके बाद उन्होंने अपना जनेऊ तोड़कर दंशस्थल के ऊपर-नीचे बाँध दिया, ताकि दूषित रक्त शरीर में फैलने न पाये। पण्डितजी के इस तात्कालिक उपचार से महिला की चेतना शीघ्र लौट आई। तब तक वहाँ बहुत-से लोग एकत्र हो गये थे। उनमें गाँव के कुछ ब्राह्मण भी थे। उनमें से एक बुजुर्ग ने पण्डितजी से कहा, ''आपने शहर में जाकर लेखनी चलानी क्या शुरू की, आपको वहाँ की हवा लग गई ! इसी कारण आप अपना धर्म तथा ब्राह्मणत्व भूल गये। आपने इस महिला को अछूत जानते हुए भी, न केवल उसे स्पर्श किया, बल्कि ब्राह्मणत्व के प्रतीक पवित्र जनेऊ को तोड़कर उसके पाँव में बाँध दिया। यदि दूसरे ब्राह्मण आपका अनुकरण करने लगे, तब तो यह देश रसातल में जाने देर नहीं लगेगी और हम आदर-सम्मान पाने योग्य भी न रह जायेंगे।''

द्विवेदीजी ने सुना, तो उन्हें उस व्यक्ति पर तरस आया। वे बोले, ''मृत्यु के नाजुक क्षणों में जाति-धर्म, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, पवित्र-अपवित्र, सम्मान-असम्मान आदि का ख्याल नहीं किया जाना चाहिये। मुझे तो गर्व है कि मेरा जनेऊ एक महिला की प्राणरक्षा के काम आया। महिला के स्पर्श से यह जनेऊ अपवित्र नहीं, अपितु धन्य हो गया। शायद आपको 'ब्राह्मण' की परिभाषा नहीं मालूम। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, व्यक्ति में ब्राह्मणत्व सूचक गुण भी होने चाहिये। श्रुति वचन है – **यो दयावान द्विजश्रेष्ठः सर्वभूतेषु सर्वदा**, अर्थात् जो सर्वकाल में सर्व प्राणियों पर दया तथा प्रेम दिखाता है, वही 'द्विज' यानी ब्राह्मण है। वस्तुतः हम तथाकथित उच्चवर्गीय ब्राह्मणों ने आम लोगों को अस्पृश्य, दलित, गर्हित, हेय आदि मानकर स्वयं का ही दर्जा घटा दिया है। इसे दर्जे से ऊपर उठने के लिये हमें इन्हें ऊपर उठाने के सत्प्रयास करने होंगे और यही ब्राह्मणत्व का द्योतक होगा।'' ❑❑❑

राजपुताना में रामकृष्ण-भावधारा

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

राजपुताना में युगधर्म-प्रचार का कार्य अर्थात् रामकृष्ण-विवेकानन्द-भाव-आन्दोलन का इतिहास तीन धाराओं में प्रवाहित होता हुआ दिखाई देता है। प्रथम धारा में स्वामी विवेकानन्द का राजपुताने में आगमन, और स्वामी अखण्डानन्द का खेतड़ी में निवास तथा सेवा-आरम्भ देखने को मिलता है। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से ही पत्रों के माध्यम से अखण्डानन्दजी को राजपुताना के ठाकुरों के बीच कार्य करने और उनकी सहायता से निर्धन प्रजा की शिक्षा, चिकित्सा तथा अन्य प्रकार से सेवा में लग जाने का आह्वान किया था। अखण्डानन्दजी कई वर्ष तक यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पादन करने के बाद १८९६ ई. के आरम्भ में आलमबाजार मठ गये, तो फिर दुबारा राजपुताना नहीं लौटे। इसका सविस्तार विवरण हम दे चुके हैं।

अगले वर्ष १८९७ के अन्त तथा १८९८ के प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने लगभग एक माह खेतड़ी-जयपुर तथा जोधपुर प्रवास का दौरा तथा प्रवास किया और उसके बाद से काफी काल तक राजपुताना में रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से सम्बन्धित प्रचार या सेवा का कोई विशेष कार्य नहीं हो सका।

माउंट आबू तथा बीकानेर में जपानन्दजी

इस भाव-आन्दोलन का दूसरा प्रवाह श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी जपानन्दजी के माध्यम से राजपुताने में प्रविष्ट हुआ। वे १९२८ ई. में तीर्थ-यात्राएँ करते हुए माउंट आबू आये और उसके बाद से प्राय: प्रतिवर्ष गर्मियों का काल वहीं बिताने लगे। वहाँ निवास के दौरान उनका राजस्थान के अनेक लोगों से सम्पर्क हुआ और भावधारा के प्रचार तथा कार्य को भी विशेष बल मिला। लगभग २० वर्ष उन्होंने, स्वामी विवेकानन्द के निवास से धन्य, वहाँ की चम्पा गुफा में निवास किया। बाद में १९५८ ई. में भक्तों द्वारा वहाँ के सनसेट-प्वाइंट रोड पर एक छोटा-सा 'श्रीरामकृष्ण-आश्रम' बनवा दिया गया, जिसमें वे बेलूड़ मठ के महासचिव स्वामी माधवानन्दजी की अनुमति से स्थायी रूप से रहने लगे।[1]

बीकानेर के एक सज्जन श्री पूनमचन्द तोमर बीकानेर के महाराजाओं की सेवा में थे और उन्हीं के साथ प्रतिवर्ष गर्मी के ३-४ माह माउंट आबू में बिताया करते थे। १९४३ ई. के जून में उनका स्वामी जपानन्दजी से परिचय हुआ। उनसे बातचीत करने के बाद वे हार्दिक रूप से उनके साथ जुड़ गये। तभी से पूनमचन्दजी का पत्र तथा भेंट के द्वारा उनसे निरन्तर सम्पर्क बना रहा। जपानन्दजी ने २५ नवम्बर, १९४७ में पहली बार बीकानेर में पदार्पण किया और वहाँ पन्द्रह दिन ठहरे, जिससे वहाँ के बहुत-से लोगों को उनके पवित्र सान्निध्य का लाभ मिला। उन्हीं की प्रेरणा से १ अक्तूबर, १९४९ के दिन वहाँ श्रीरामकृष्ण कुटीर का श्रीगणेश हुआ। प्राय: प्रतिवर्ष वे वहाँ आकर ठहरते और उस अंचल के असंख्य लोगों को आध्यात्मिक प्रेरणा से धन्य करते। भाव-प्रचार में सहायता हेतु उन्होंने दर्जनों पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें से लगभग एक दर्जन उक्त कुटीर से प्रकाशित हो चुकी हैं। २७ फरवरी, १९७२ को स्वामी जपानन्दजी ने देहत्याग कर दिया। कुटीर अब भी सक्रिय रूप से जनसेवा में निरत है। स्वामी जपानन्दजी के जीवन तथा कार्य के विषय में रामकृष्ण संघ के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने ३ मई, १९७२ को उनके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में लिखा था – "वे एक तपस्वी तथा ध्याननिष्ठ साधु थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन लोगों की भीड़भाड़ से दूर एकान्त स्थानों में बिताया था। तथापि वे अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों को आध्यात्मिक रूप से प्रभावित करने की चेष्टा करते थे; और इस प्रकार वे बड़ी संख्या में भक्तों के प्रिय बन गये थे। वे लोग आज भी कृतज्ञता एवं प्रेम के साथ उनका स्मरण किया करते हैं। मेरी कामना है कि उनका जीवन भक्तों को इसी जीवन में ईश्वर-प्राप्ति की प्रेरणा प्रदान करे।"[2]

१९८७ ई. के अन्त में पश्चिमी राजस्थान घोर अकाल की चपेट में था। उस समय बीकानेर से ५ किलोमीटर दूर शिवबाड़ी में रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ की ओर से करीब

१. नित्यसिद्ध सन्त स्वामी जपानन्द, पूनमचन्द तोमर, प्रथम सं. १९९८, श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर, पृ. २७-८

२. सन्देश, जय भगवान स्मारिका १९७२, श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर

आठ महीने तक गो-सेवा राहत कार्य चलाया गया। इस दौरान मिशन के वरिष्ठ संन्यासी वहाँ साप्ताहिक सत्संग तथा राम-नाम-संकीर्तन चलाया करते थे। उसी सिलसिले में २६ मई १९९२ में वहाँ एक 'विवेकानन्द समिति' का गठन हुआ। १९९२ ई. के १० अक्तूबर को बीकानेर की राजमाता श्रीमती सुशीला कुमारीजी ने समिति को 'श्रीरामकृष्ण आश्रम' के निर्माण हेतु लगभग सवा दो एकड़ भूमि प्रदान किया। तभी से इस नये परिसर में आश्रम का निर्माण-कार्य चलता रहा और साथ ही सेवामूलक विभिन्न कार्य भी चल रहे हैं।

खेतड़ी में रामकृष्ण मिशन

इस भाव-आन्दोलन का तीसरा प्रवाह खेतड़ी तथा पं. झाबरमलजी शर्मा के नाम से जुड़ा है। पण्डितजी का जन्म १८८८ ई. में खेतड़ी के निकटस्थ जसरापुर ग्राम में हुआ था। ये एक सुप्रतिष्ठित पत्रकार तथा इतिहास-लेखक थे। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में इन्होंने 'खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द' (१९२७), 'खेतड़ी का इतिहास' (१९२७) और 'आदर्श नरेश' (राजा अजीतसिंह) (१९४०) – इन तीन पुस्तकों तथा कुछ लेखों में स्वामी विवेकानन्द के राजपुताने, विशेषकर खेतड़ी से सम्बन्ध विषयक शोधपूर्ण जानकारियाँ प्रकाशित कीं। इनमें से प्रथम पुस्तक स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई अखण्डानन्दजी की भूमिका के साथ छपी थी। खेतड़ी-नरेश के नीजी सचिव मुंशी जगमोहन लाल से भी उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। राजा अजीतसिंहजी की कनिष्ठ पुत्री राजकुमारी चन्द्रकुमारी देवी ने भी लेखन-कार्य हेतु इन्हें बहुत-से दस्तावेज सौंपे थे।

१९५० के दशक के प्रारम्भ दो घटनाएँ हुईं, जिनके कारण राजस्थान में रामकृष्ण मिशन का पहला शाखाकेन्द्र आरम्भ हुआ और स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी जानकारियाँ भी प्रकाश में आयीं।

इस प्रसंग में पण्डितजी ने बताया था – "... राजनैतिक नेताओं के स्मारक जगह-जगह बनने लगे थे। मेरे जी में यह भावना उठी कि इन राजनैतिक नेताओं के जो प्रेरणा-स्रोत हैं, उनके मार्गदर्शक – स्वामी विवेकानन्द – उनका खेतड़ी के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है – उनका स्मारक अवश्य बनना चाहिए – और इस विषय की चर्चा मैंने अपने मित्र, कलकत्ता के प्रसिद्ध एडवोकेट पं. वेणीशंकर शर्मा से की। मैंने उनसे कहा कि हर कार्य में रुपयों की जरूरत होती है, तो जब तक कुछ काम न बन जाए, तब तक हम लोग किसी दूसरे से आर्थिक सहयोग प्राप्त नहीं करें, तो फिर वह कार्य सिद्ध नहीं होता – आप इस योग्य हैं कि इस हेतु कम-से-कम दस हजार दे सकते हैं। वेणीशंकरजी की गृहिणी उनसे भी अधिक उदार थीं। श्री वेणीशंकर तो कुछ सोचते रहे, परन्तु श्रीमती वेणीशंकर ने कहा कि दस हजार की क्या बात है, हम समझेंगे कि एक लड़की की शादी की!

"उन्हीं दिनों खेतड़ी के राजा सरदार सिंहजी बहादुर ने अपने सीनियर अफसर से कहा कि ठिकाने के विलयन के बाद अपने राज्य के कागजों को रद्दी में फेंकने से पहले उनको यानी मुझे दिखा लें कि कहीं कोई काम का कागज न चला जाए। सीनियर साहब ने मुझे अवगत किया और मैंने उन कागजों को देखा, टटोला तो मुझे उसमें स्वामी विवेकानन्द के और उनके गुरुभाइयों के पत्र मिले, जिससे मैं उछल पड़ा। मैंने उनको बताया कि ये पत्र ऐसे हैं कि बड़े-बड़े राज्यों के नाम मिट जायेंगे, परन्तु खेतड़ी का नाम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रख्यात होगा और वह कभी नहीं मिटेगा। तब वे पत्र उन्होंने अपने कब्जे में सुरक्षित कर लिए और उनके फोटोस्टैट कापी लेने के लिए मुझे इजाजत दे दी। मैंने उनकी फोटोस्टैट कापियाँ लेकर उनको वापस कर दिया और उनके वाकयात रजिस्टर में विवेकानन्द स्वामीजी से सम्बन्ध रखनेवाले जो अवतरण थे, उनकी मैंने कापी कर ली, जो मेरे पास अब भी सुरक्षित हैं। इससे पहले मैं अपने खेतड़ी के मित्रों – बाबू सूरतरामजी दादू, पं. महेशचन्द्रजी शर्मा और बाबू जगन्नाथ प्रसादजी गुप्त को अपने साथ ले चुका था। इसके पश्चात् मैं पिलानी जाकर श्री पण्डितप्रवर शुकदेवजी पाण्डे से मिला और उन्हें अपने विचार से अवगत किया। उन्होंने इस प्रयास में अपना आन्तरिक सहयोग देने की सहर्ष अनुमति प्रदान की। फलस्वरूप खेतड़ी में रामकृष्ण मिशन का केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न सफल हुआ।"[३]

खेतड़ी का आश्रम जिस भवन में स्थापित हुआ, उसके विषय में पण्डितजी ने कहा – "यह वही दीवानखाना है, जिसमें बैठकर पं. जवाहरलाल जी के बड़े ताऊ पं. नन्दलाल जी नेहरू ने (राजा फतहसिंहजी के राज्यकाल में) खेतड़ी राज्य की प्राय: दस वर्ष तक दीवानी की थी। दीवानखाने से संलग्न ड्योढ़ी है, जिसमें स्वामी विवेकानन्दजी के आशीर्वाद से राजकुमार जयसिंह का जन्म हुआ था। इसी दीवानखाने में अपनी सन् १८९१ की पहली ऐतिहासिक यात्रा में स्वामी विवेकानन्दजी ने प्राय: ५ महीने निवास किया था।* तदनन्तर १८९३ ई. में अमेरिका में समवेत विश्व-धर्म सम्मेलन के लिए यहीं से प्रस्थान किया था। ये दोनों ही स्थान राजाबहादुर सरदारसिंहजी ने प्रदान करने की कृपा की।"[४] ...

पण्डितजी के प्रयासों से खेतड़ी में रामकृष्ण मिशन की

३. दूबे उमादत्त अनजान द्वारा भेंटवार्ता, पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, सं. काशीराम शर्मा, १९७७, नई दिल्ली, पृ. ५८-५९; तथा पं. झाबरमल्ल शर्मा रचनावली, २००८, खण्ड ८, पृ. १४३-४

* अनुमान है कि अपनी पहली यात्रा के दौरान स्वामीजी ने इस महल के अतिरिक्त भी कुछ स्थानों पर निवास किया था।

४. पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, १९७७, पृ. ५९

शुरुआत जिस रूप में हुई, उसके घटनाक्रम का विवरण इस प्रकार है – १९ अक्तूबर, १९५६ को रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ की संचालक-समिति में खेतड़ी में एक केन्द्र बनाने का प्रस्ताव पारित हुआ। ५ दिसम्बर, १९५६ को राजा सरदार सिंह जी ने दीवानखाना तथा जनानी ड्योढी नामक महलों को मिशन के नाम हस्तान्तरण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किये।[५]

दिल्ली रामकृष्ण मिशन के प्रमुख स्वामी रंगनाथानन्दजी रामकृष्ण मिशन की ओर से महलों का दान स्वीकार करने हेतु १९५८ ई. के अन्तिम सप्ताह में खेतड़ी पधारे।

राजा सरदारसिंहजी ने "स्वामीजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के निमित्त 'जनानी ड्योढ़ी' एवं 'दीवानखाना' नामक दो महलों का दानपत्र रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के नाम रजिस्ट्री कराकर यथाविधि समर्पित किया। मिशन के प्रतिनिधि स्वामी रंगनाथानन्द। दिनांक २९ दिसम्बर १९५८ ई.।"[६]

स्वामी रंगनाथानन्द जी का भाषण

३० दिसम्बर के दिन स्वामी रंगनाथानन्दजी ने दीवानखाने के दरबार हॉल में पूर्वाह्न में ११ बजे खेतड़ी के ही बेसिक एस.टी.सी. ट्रेनिंग स्कूल के छात्रों तथा शिक्षकों के समक्ष एक व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान को सुनने खेतड़ी के अनेक नागरिक तथा स्थानीय हाई स्कूल के छात्र भी उपस्थित थे। खेतड़ी रियासत के सीनियर अफसर रायबहादुर करमचन्द टण्डन ने सभा की अध्यक्षता की। स्वामीजी ने अंग्रेजी में बोलना आरम्भ किया, परन्तु कुछ अंश हिन्दी में भी कहा। व्याख्यान का सारांश इस प्रकार है –

"स्वामी विवेकानन्द खेतड़ी के राजा अजीतसिंह के बड़े घनिष्ठ मित्र थे और उन्होंने यहाँ पर कई बार पदार्पण किया था। उनकी स्मृति को बनाने रखने हेतु खेतड़ी के (वर्तमान) राजा ने जिन भवनों का दानपत्र लिखा है, उसी के क्रियान्वयन हेतु मैं यहाँ आप लोगों के बीच उपस्थित हुआ हूँ। चूँकि स्वामी विवेकानन्द का इस स्थान तथा इन भवनों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिये रामकृष्ण मिशन ने इन भवनों का दान स्वीकार करके अपने उत्तरदायित्व में वृद्धि कर ली है।

"स्वामीजी २८ वर्ष की आयु में खेतड़ी आये। युवा होने के बावजूद वे अत्यन्त महान् थे। भारत को महान् बनाना ही उनके जीवन का उद्देश्य था और वे भारत को एक महान् राष्ट्र बनाकर अपने देश तथा देशवासियों की सेवा करना चाहते थे। अपने इस सेवा-अभियान में उन्हें काफी लोगों की जरूरत थी। उन्होंने सोचा कि भारत की बहुसंख्य जनता के बीच शिक्षा-विस्तार तथा उनकी उन्नति के कार्य में भारत के लगभग ६०० राजा भी उनके महान् सहायक बन सकते हैं। परन्तु यह देखकर वे निराश हुए कि अधिकांश राजा अत्यन्त स्वार्थी हैं और ऐसी अभिरुचियों तथा गतिविधियों में व्यस्त हैं, जिनसे मानवता की सेवा का दूर-दूर तक कोई नाता नहीं है। उन्हें खेतड़ी (राजस्थान), लिमड़ी (गुजरात), मैसूर (कर्नाटक) तथा रामनाद (तमिलनाडु) – केवल इन चार राजाओं में ही प्रगतिशील दृष्टिकोण तथा सेवा-भावना देखने को मिली। उन्होंने इनके साथ मित्रता स्थापित की और अपने कार्य के प्रसार में इनसे अपेक्षित सहायता भी प्राप्त की।

"अमेरिका में उन्होंने इसके बिलकुल भिन्न परिस्थिति देखी। वहाँ पर कोई राजा न था, लेकिन जनता समृद्ध तथा खुशहाल थी। कारण यह था कि वहाँ सभी लोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक महानता तथा खुशहाली के लिये उत्सुक थे। अमेरिकी लोग कार्यकुशल थे। वे लोग ज्ञान-पिपासु थे और अपने कार्य से प्रेम करते थे। वहीं पर उन्हें यह रहस्य ज्ञात हुआ कि भारत से लक्ष्मी का पलायन क्यों हुआ, इसलिये कि भारत के लोग आलसी हो गये थे और काम से जी चुराने लगे थे। स्वामीजी भारत में समृद्धि लाने को बड़े उत्सुक थे। ऐसा करना तभी सम्भव था, यदि चरित्र पर आधारित समुचित शिक्षा के द्वारा जनता की बुद्धि के द्वार खोल दिये जायँ; इससे देश में होनेवाले विभिन्न उद्यमों को बढ़ावा मिल सकता था। भारत की जनता में कर्तव्य-निष्ठा तथा सेवा का भाव लाना आवश्यक था।

"स्वामीजी के व्याख्यानों में हमें धर्म का व्यावहारिक स्वरूप प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में उपासना का सर्वोच्च रूप मानवता की सेवा ही थी। धर्म का अर्थ आसमान की ओर देखना मात्र नहीं है। इसका अर्थ चरित्र का निर्माण, सेवा -भाव का विकास और मानव-मात्र के लिये असीम प्रेम।

"उनके व्याख्यान, पत्र तथा लेख अत्यन्त प्रेरणादायी हैं। समझने की दृष्टि से उनकी भाषा स्फटिक के समान स्वच्छ है और उसमें पाठक के लिये संगीत तथा सम्मोहन – दोनों ही विद्यमान हैं। कोई भी युवक या छात्र उनसे वंचित न रहे।

"स्वामी विवेकानन्द एक महान् शिक्षक थे। उन्होंने एक रचनात्मक तथा मनुष्य-निर्माण करनेवाली शिक्षा-प्रणाली की रूपरेखा प्रदान की। उन्होंने ऐसी शिक्षा पर बल दिया, जो हमें मातृभूमि का शिक्षित सेवक बना सके। बाद में महात्मा गांधी ने स्वामीजी के शिक्षा-दर्शन तथा जीवन-दर्शन को समझा तथा अपनाया; और हमें मानवता से प्रेम करने तथा किसी का भी शोषण न करने की शिक्षा दी। उनकी बुनियादी शिक्षा योजना – स्वामीजी के ही शिक्षा-विषयक धारणा 'सर्वांगीण व्यक्तित्व के समन्वित विकास' पर आधारित थी।

---

५. Swami Vivekananda and 21st Century India, (खेतड़ी आश्रम की स्मारिका) वर्ष १९९३, पृ. १७

६. 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द' पं. झाबरमलजी शर्मा, सम्पादक श्री श्यामसुन्दर शर्मा, १९८९, दिल्ली, भाग १, पृ. १७५ तथा नेहरू मेमोरियल अभिलेखागार में संरक्षित पं. झाबरमल शर्मा के कागजात

''स्वामीजी एक महान् देशभक्त थे। अमेरिका में उन्हें उस देश के एक भव्य होटल में ठहराया गया था। पर वे वहाँ के आरामदायक बिस्तर पर सो नहीं सके। उन्हें भारतीय जनता की निर्धनता की स्मृति हो आयी थी, जिनके लिये जीवन की मूलभूत जरूरतें तक उपलब्ध नहीं थीं। वे सारी रात रोते रहे। बेशकीमती तकिया उनकी आँसुओं से भीग गया था।

''भारत की लोकोपकारी सरकार अब अपने पंचवर्षीय योजनाओं के मध्याम से जनता की दशा में सुधार तथा देश में समृद्धि लाने के उपाय कर रही है। ...

''इस संस्था के छात्र – बच्चों के प्राथमिक शिक्षण – का प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले हैं। प्राथमिक शिक्षा को वस्तुत: प्राथमिक ही होना चाहिये। इसे वह नींव बननी चाहिये, जिस पर शिक्षा की इमारत खड़ी होगी। शिक्षकों में पूर्ण अनुशासन तथा देशप्रेम का भाव होना चाहिये, ताकि वे स्वयं दृष्टान्त बनकर बच्चों को आदर्श जीवन की प्रेरणा दे सकें। उन्हें मात्र सूचनाएँ देनेवाला नहीं, अपितु शिक्षक बनना होगा – दोनों में भेद यह है कि शिक्षक अपने व्यक्तिगत सम्पर्क से प्रेरणा का संचार करने में सक्षम होता है। शिक्षक में आदर्श के प्रति उत्साह होना आवश्यक है। समाजवादी पद्धति पर आधारित भारतीय लोकतंत्र की समुचित क्रियाशीलता, पूरी तौर से प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों के सफलतापूर्ण शिक्षण पर ही निर्भर करेगी। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य है – आवश्यक सुधार लाना और साथ ही बच्चों को इस महान् देश के सुयोग्य नागरिक होने के लिये प्रशिक्षित करना। तब भारत एक ऐसा राष्ट्र बन सकेगा, जो बौद्धिक दृष्टि से सजग हो, भौतिक दृष्टि से स्वस्थ हो और मानवता के प्रति प्रेम के रूप में आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध हो। यह एक ऊर्जावान राष्ट्र बनकर रचनात्मक तथा उत्पादकता के कार्यों में लग जायेगा। कर्म तथा कर्तव्य के प्रति अरुचि का भाव लुप्त हो जायेगा। स्कूलों में शारीरिक कर्म पर बल देकर 'श्रम की गरिमा' के प्रति श्रद्धाभाव जगाया जा रहा है।

''एक अन्य महान् देश – रूस ने भी शिक्षा की मूलभूत योजना का महत्त्व समझा है और हाल ही में इसे अपने माध्यमिक शालाओं के लिये स्वीकार कर लिया है।

''बुनियादी शिक्षा की मूल बात यह है कि यह कर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है और बच्चा कर्म के लिये गर्व करना सीखता है। बड़े तथा छोटे कार्य के बीच भेदभाव करना अत्यन्त हानिकारक है और वे इससे छुटकारा पा लेते हैं। वे सीखते हैं कि प्रत्येक कार्य ही उत्तम तथा पवित्र है।

''परजीवियों के लिये देश में कोई स्थान नहीं होगा। हर व्यक्ति को अपनी रोजी-रोटी अर्जित करनी होगी। शिक्षा के द्वारा हर व्यक्ति को देश की उत्पादकता बढ़ाने में सक्षम एक उपयोगी घटक बनाना होगा। उसे भी देश की समृद्धि में योगदान करना होगा।

''प्राथमिक स्कूल के शिक्षक प्राचीन काल के ब्राह्मणों के समान हैं। ब्राह्मण को उसके ज्ञान तथा चरित्र के कारण ही इतना महान् समझा जाता था। उसकी सेवा-भावना तथा बच्चों के प्रति अनन्त प्रेम के कारण ही वह समाज में इतना सम्मानित था। प्राथमिक विद्यालय का शिक्षक बच्चों के माता और पिता – दोनों की ही भूमिका निभाता है। शिक्षक के रूप में बच्चे को एक स्नेहपूर्ण मार्गदर्शक मिल जाता है। अन्य देशों में बच्चों की प्राथमिक अवस्था में उन्हें महिला शिक्षिकाओं के अधीन रखा जाता है। भारत में पुरुष शिक्षकों को यह ध्यान रखना होगा कि उनके संरक्षण में दिये गये बच्चे अपने सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक स्नेह-प्रेम से कहीं वंचित न रह जायँ। रूस में बच्चों की पूजा होती है। प्राचीन भारत में भी हर बच्चे को गोपाल मानते थे। वर्तमान शिशु-केन्द्रित शिक्षा-व्यवस्था में बच्चों को सम्मान देना होगा। सर्वविदित है कि मन में कुण्ठाओं का निर्माण मुख्यत: शिक्षकों तथा अन्य लोगों से स्नेह के अभाव में ही होता है।

''स्वामीजी ने आध्यात्मिकता की तुलना में जनता के आर्थिक कल्याण तथा समृद्धि को प्राथमिकता प्रदान की, तथापि चरित्र-निर्माण पर वे बराबर जोर देते रहे। विशेषकर प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों और सामान्य रूप से सभी शिक्षकों को मेरी सलाह है कि वे स्वामीजी के ग्रन्थ पढ़ें और उन्हें अपना मित्र बना लें।''[७]

आश्रम का नाम हुआ 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मन्दिर'। इसकी पहली प्रबन्ध कमेटी के सदस्य थे – अध्यक्ष – स्वामी रंगनाथानन्दजी, उपाध्यक्ष – श्री आर. बी. करमचन्द टण्डन, सचिव – पण्डित झाबरमल शर्मा, उपसचिव – श्री बेनीशंकर शर्मा, कोषाध्यक्ष – श्री महेशचन्द्र शर्मा; अन्य सदस्य – लेफ्टिनेंट कमांडर एस. डी. पाण्डे, श्री कन्हैया तिवारी, श्री मुरलीधर शर्मा, श्री सूरतराम दादू, श्री तारकेश्वर शर्मा तथा श्री बेनी प्रसाद डालमिया।[८]

❖ **(क्रमश:)** ❖

७. नेहरू मेमोरियल अभिलेखागार; एक अन्य अनुवाद द्रष्टव्य 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द', पण्डित झाबरमलजी शर्मा, सम्पादक – श्री श्याम सुन्दर शर्मा, भाग १, सं. १९८९, दिल्ली, पृ. १७५-८०

८. खेतड़ी आश्रम की स्मारिका, वर्ष १९९३, पृ. १८

माँ को जैसा मैंने देखा

स्वामी भूमानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

कलकत्ते के उप-नगरीय इलाके के एक छोटे से कस्बे में मेरा पूर्वाश्रम था। १९०८ ई. के मार्च में हम लोगों के निमंत्रण पर श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव में भाग लेने के लिये बेलूड़ मठ से पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी निर्मलानन्द तथा स्वामी अम्बिकानन्द का उस छोटे से शहर में शुभागमन हुआ। मेरे घर में ही इन लोगों के ठहराने का निश्चय हुआ। उत्सव के आनन्द में सात दिन बीत गये। मठ लौटते समय प्रेमानन्दजी मुझे अपने साथ लेते गये।

बागबाजार के बलराम-भवन में मैंने शरत् महाराज (सारदानन्दजी) का पहली बार दर्शन किया। तब उनकी दाढ़ी-मूँछें थीं। उन अल्पभाषी गम्भीर मूर्ति को देख प्रेम उत्पन्न होते हुए भी तसल्ली का अनुभव नहीं हो सका। इससे पहले कभी मैंने ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं देखा था। यह घटना चैत्र महीने में हुई। इसके बाद बैशाख के अन्तिम सप्ताह में रात के करीब ११ बजे थे। शरत् महाराज अहीरीटोला से नौका द्वारा सालकिया के रास्ते बेलूड़ मठ आ पहुँचे थे।

मुझे मठ में आये केवल दो महीने हुए थे। अपने घर में निवास के दौरान मैंने जिन संन्यासियों को देखा था, वे प्राय: सभी उत्तर भारतीय थे। वे वृक्ष के नीचे रहते, प्रज्वलित धूनी के पास बैठकर गाँजा सेवन करते, कौपीन तथा कम्बल मात्र रखते, रोग होने पर औषधि देते, रुपये लेकर भाग्य बताते, किराये-भाड़े के लिए गृहस्थों के द्वार पर शुभागमन करते – ये ही उन साधुओं के लक्षण थे। और यही मैं जानता था। फिर स्थानीय धार्मिक कहलाने वाले लोगों में प्राय: सभी प्रलाप की तरह असम्बद्ध बातें करते। उनमें से शायद कोई -कोई मौन रहते थे। धार्मिक लोगों में कुछ भावावेश में कभी हँसते, कभी रोते, कभी नाचते, या कभी उट-पटांग बकते। ये धार्मिक लोग बातें करते समय – 'भूल गया हूँ' – कहकर यह जताने की चेष्टा करते कि यह जगत् उनके मन में अधिक देर तक स्थान नहीं बना पाता। उन दिनों मैं समझता कि 'भूल जाना' धार्मिकता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

बेलूड़ मठ आकर मेरी ये पूर्व-धारणाएँ पूर्णत: गलत प्रतीत हुईं। घर में रहते समय मैं दर्शक था। यहाँ शिष्य था, अत: सीखा कि 'भाव' होना बहुत अच्छा है, परन्तु 'भावुकता' अच्छी नहीं, जैसे 'पवित्र' होना अच्छा है, पर पवित्रता का दम्भ होना उचित नहीं। जाना कि 'भूलना' कोई धार्मिकता का लक्षण नहीं है। सुना – साधु की मांसपेशी लोहे के समान, नसें इस्पात के समान और इच्छाशक्ति ऐसी होगी, जिसका गतिरोध करना किसी भी प्रकार सम्भव न हो।

गर्मी के दिन थे और उन दिनों महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) पुरी में रहते। प्रेमानन्दजी और महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) मठ के कार्य देखते। स्वामी अद्वैतानन्द, नित्यानन्द और गुप्त महाराज (सदानन्द) मठ में रहते। शरत् महाराज बीच-बीच में कलकत्ते से मठ आते और कभी-कभी दो-एक दिन वहीं रहते। अधिकांशत: वे जिस दिन आते, उसी दिन कलकत्ते लौट जाते।

जिस वर्ष (१९०८) मुझे मठ में स्थान मिला, उस वर्ष पुरी जिले में मिशन का अकाल-राहत का कार्य चल रहा था। चिल्का झील में कई द्वीप हैं, उन सबमें फसल न होने से वहाँ अकाल पड़ गया था। सेवाकार्य दस माह चला और १९०९ ई. के नवम्बर के प्रथम सप्ताह में बन्द हुआ। स्वामी शुद्धानन्द के प्रस्ताव तथा शरत् महाराज के अनुमोदन से उस सेवाकार्य के अन्तिम पाँच महीने मुझे भी उसमें योगदान करने का सौभाग्य मिला था। चिल्का से लौटकर मैं बेलूड़ मठ में रहा। कुछ दिनों बाद प्रेमानन्दजी ने मुझे मन्दिर के भण्डार में नियुक्त किया। पूजा की व्यवस्था – मेरा प्रतिदिन का काम हो गया।

१९०९ ई.। बेलूड़ मठ में ठाकुर के जन्मोत्सव के तीन-चार दिन पूर्व शिव-चतुर्दशी की रात को, होम के कमरे में शरत् महाराज को एक ही आसन पर बैठकर चारों प्रहर की पूजा करते देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। ठाकुर की तिथिपूजा की रात शरत् महाराज ने प्रतिवर्ष की भाँति मन्दिर में बैठकर (भावार्थ) – "दुखी ब्राह्मणी की गोदी में, कौन सो रहे आलोकित कर !" और स्वामीजी की तिथिपूजा के दिन – "एकरूप अरूप नाम-वरण अतीत आगामी कालहीन, देशहीन सर्वहीन नेति-नेति विराम जहाँ !" – भजन गाते सुना। इसके सिवा अन्य समय भी उन्हें कई भजन गाते सुना है। उनका कण्ठ-स्वर तथा गाने का लहजा बड़ा अद्भुत था।

इसी वर्ष उद्‌बोधन-भवन का निर्माण कार्य पूरा हो चुका था। उत्सव के बाद शरत् महाराज के पास माँ का पत्र आया – मामा लोग अलग होना चाहते हैं, बँटवारे के समय शरत् महाराज को उपस्थित रहना होगा। शरत् महाराज ने आकर मठ में सूचना दी। मैंने बाबूराम महाराज (प्रेमानन्दजी) को पकड़ा, "मैंने माँ को कभी नहीं देखा, मैं शरत् महाराज के साथ जाऊँगा।" उन्होंने खुशी-खुशी सहमति दे दी।

१९०९ ई. का २३ मार्च। शरत् महाराज सुबह गोमो पैसेंजर से रवाना हुए। योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ भी साथ चलीं। ट्रेन सीटी देकर हावड़ा स्टेशन से रवाना हुई।

खड्‌गपुर में गाड़ी रुकने पर खाना खरीदकर महाराज और मैंने भोजन किया। योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ ने गाड़ी में कुछ नहीं खाया। शाम को गाड़ी विष्णुपुर पहुँची। हम सभी वहीं उतर गये। एक चट्टी में भोजन की व्यवस्था हुई। भोजन के बाद शरत् महाराज चलने को प्रस्तुत हुए।

यथासमय दो बैलगाड़ियाँ आ पहुँचीं। पहली में योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ बैठीं। दूसरी में शरत् महाराज बैठकर मुझसे बोले, "चढ़ जा।" हे भगवान ! क्या एक ही गाड़ी में दोनों को सोना पड़ेगा ! एक तो वे स्थूलकाय थे और उनकी कद-काठी भी कम नहीं थी। पर उस समय कोई क्या कहे? शरत् महाराज की बगल में एक किनारे पूरी रात बिताई और ज्योंही तीन बजा मैं गाड़ी से उतरकर पैदल चलने लगा।

गाड़ी अगले दिन सुबह नौ बजे कोआलपाड़ा पहुँची। तब भी वहाँ मठ नहीं बना था, पर शिल्प-विद्यालय था। केदार बाबू (बाद में स्वामी केशवानन्द) ने बक्से और बिस्तर ढोने हेतु कुली ठीक कर दिये। शरत् महाराज पैदल ही जयरामबाटी चले। ग्यारह बजे आमोदर नद पार करने के बाद महाराज एक छोटे-से वटवृक्ष के नीचे बैठ गये। हम लोगों के पीछे-पीछे एक वृद्धा भी आ रही थी। महाराज को पसीने से लथपथ देख उसमें सहानुभूति जागी। वह स्नेहपूर्वक बोली, "अहा, मोटा व्यक्ति ! बेटा, बड़ा कष्ट हो रहा है न !" बाद के दिनों में शरत् महाराज इसे बताकर खूब मजा लेते थे।

वृद्धा चली गयी। महाराज आमोदर नद में स्नान करने उतरे। स्नान के बाद थोड़ा-सा मैदान पारकर जयरामबाटी गाँव में जा पहुँचे और धूल-धुसरित पाँवों में ही माँ के समक्ष जा खड़े हुए। सर्वप्रथम उन्होंने प्रणाम किया – माँ ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और ठुड्डी पर हाथ लगाने के बाद हाथ को चूम लिया। मैं माँ को अपलक देखता रहा।

२४ मार्च। जयरामबाटी में माँ के मँझले भाई – काली मामा ने बड़े प्रेम से अपने नये मकान में महाराज के ठहरने की व्यवस्था की थी। माँ दोनों समय शरत् महाराज के लिये कुछ पकातीं। भक्तों को खाना बनाकर खिलाना माँ को बहुत पसन्द था। जब कोई भक्त माँ को देखने जयरामबाटी आता, माँ उसके लिये तत्काल कुछ पकातीं।... गाँवों में वर्षा होने पर कैसा कीचड़ हो जाता है ! माँ ओसारे के उस कीचड़ को सुबह-सुबह एक लकड़ी से बराबर कर देतीं। एक दिन जब यह बात मैंने महाराज से कही, तो वे बोले, "यहाँ माँ के हाथ से काम छुड़ाकर तुम मत करना, इससे मामियों पर आक्षेप आयेगा।" अत: अति अनिच्छा के बावजूद मैं आँखें मूँदकर चला आता। माँ स्वेच्छया कार्य करतीं। कार्य में उन्हें सर्वदा ही आनन्द प्राप्त होता था। काम न कर पाने पर वे अत्यन्त दुखी होती थीं।

माँ पहले ही दिन से मेरे साथ बातें करने लगीं। लेकिन शरत् महाराज, सम्भवत: मुझे थोड़ा मूर्ख जानकर, कहीं मैं माँ से कोई मूर्खतापूर्ण बात न कह बैठूँ, इस बारे में मुझे बीच -बीच में समझाकर सतर्क कर देते। पर मैंने देखा कि एक भक्त मेरे भी बड़े भाई निकले। वे माँ का दर्शन करने आये थे। मैं उन्हें अन्दर ले गया। प्रणाम करते समय उन्होंने माँ के श्रीचरण को अपने सीने से लगाने हेतु उनसे बिना कुछ कहे, उनका एक पाँव खींच लिया। सौभाग्यवश माँ बरामदे की एक खुंटी पकड़कर खड़ी थीं, अन्यथा न जाने क्या होता ! मैंने दौड़कर भक्त का हाथ पकड़ा। माँ ने शान्त भाव से कहा, "लड़का बड़ा सरल है।" मैं भक्त को लेकर बाहर गया और यथासमय शरत् महारज को वह घटना बतायी वे बिना कोई मत व्यक्त किये, योगानन्द महाराज की चर्चा करते हुए बोले, "जब माँ खड़ी रहती थीं, तो योगीन महाराज कभी उन्हें प्रणाम नहीं करते थे। माँ के चले जाने पर वे उस स्थान की पदधूलि लेकर मस्तक पर लगा लेते।" जिस भक्त ने माँ के श्रीचरण पकड़े थे, उसने तो यह बात नहीं सुनी, पर मैंने सुनी। अत: मुझे लगा कि सम्भवत: शरत् महाराज मेरे बारे में सर्वदा आशंकित हैं कि कहीं मैं भी ऐसा कुछ न कर बैठूँ।

एक दिन एक भिखारी आकर एक भजन गाने लगा – (भावार्थ) – "अरी उमे, क्या ही आनन्द की बात है ! अरी शिवानी, लोगों के मुख से सुनती हूँ कि काशीधाम में तुझे अन्नपूर्णा नाम से जानते हैं, क्या यह सच है? अरी अपर्णा, जब मैंने तुझे शिव को सौंपा था, तब तो वे मुट्ठी भर भीख के लिये भटकते थे; पर अब तो सुनती हूँ कि उनके फाटक पर दरबान रहते हैं और इन्द्र, चन्द्र, यम आदि भी उनके दर्शन नहीं पाते। मेरे उन दिगम्बर को लोग 'पगला'-'पगला' कहा करते थे, इसके लिये मुझे घर में और बाहर न जाने कितने ताने सहने पड़ते थे; पर अब तो सुन रही हूँ कि वे काशीपुरी के राजा हो गये हैं और तू विश्वेश्वरी होकर उन विश्वेश्वर के बायें भाग में स्थित रहती है। शिव पहले तो हिमालय में रहते थे और उनके ऐसे भी दिन गये जब वे भिक्षा द्वारा प्राण-रक्षा किया करते थे, पर अब तो वे कुबेर के धन से काशी-नाथ हो गये हैं; अहा, क्या तेरे भाग्यक्रम से उनका भी भाग्य

पलट गया है! मैं जानती हूँ कि उनमें संसारी बुद्धि का अभाव है, नहीं मेरी गौरी का इतना गौरव क्यों होता! परन्तु वे अपने भक्तों पर दृष्टिपात नहीं करते, इसीलिये तो 'राधिका' के नाम पर मुख वक्र किये रहते हैं।''

माँ बड़े मामा के मकान में रहती थीं। मकान के बाहरी द्वार के पास खड़ी होकर माँ भजन सुन रही थीं। उनके जीवन पर भी यह भजन खूब सटीक बैठता था। उस गाँव में प्राय: सभी लोग ठाकुर को 'पागल' समझते थे। भजन सुनकर शरत् महाराज बड़े आनन्दित हुए। हँसते हुए 'इतना गौरव' – शब्द का उच्चारण करके मौन हो गये। उसके बाद बोले, ''यह भजन मैंने पहले भी जयरामबाटी में सुना था। लेकिन यह दशरथी राय का लिखा हुआ है। किस व्यक्ति ने इसे अपने 'राधिका' नाम से प्रचलित कर दिया है। मैंने छपे हुए अक्षरों में देखा है, भजन के शब्द हैं – ''दाशरथी के नाम पर मुख वक्र किये रहते हैं।''

इतने दिनों से केवल जमीन का नाप-जोख चल रहा था, अब दलील के साथ जमीन को मिलाया जायेगा। काली मामा सारे कागजात लेकर बैठे हैं। बड़े मामा की इच्छा है कि कागजात उनके पास रहें। इस पर काली मामा नाराज थे। उस दिन महाराज नक्से को लेकर काली मामा के घर में जाकर बैठे। सहसा मैंने देखा कि महाराज लौट आये हैं। मेरे उठकर खड़े होते ही वे मेरे पास आकर धीरे से बोले, ''मेरे साथ आओ। खूब सतर्क रहना और मैं जैसा कहूँगा, वैसा ही करना।'' ''चलिए'' – कहकर मैं शरत् महाराज के पीछे चल पड़ा। वे उत्तरी कमरे के बरामदे में जाकर एक चटाई पर बैठ गये। मैं बड़े मामा के पीछे खड़ा रहा; महाराज ने मुझे बैठने को भी नहीं कहा, केवल एक बार पलक उठाकर मुझे देखा। देखा – काली मामा लोहे की सन्दूक खोलकर कागज-पत्रों के साथ बरामदे में आये एवं सारे कागजात महाराज के सामने रख दिये। महाराज काली मामा के साथ नक्से देखने लगे। निश्चित हुआ कि जहाँ तक सम्भव होगा, जमीन के साथ कागजातों का भी बँटवारा होगा।

इसी बीच योगीन-माँ आकर बोली, ''शरत्, तुम्हें माँ बुला रही हैं।'' माँ का नाम सुनकर महाराज उठकर खड़े हो गये एवं बड़े मामा से बोले, ''बड़े मामा, कागजातों पर हाथ मत लगाइयेगा, जैसे रखा है वैसे ही पड़े रहें, मैं लौटकर देखूँगा।'' लेकिन उनके नेत्र मुझे देख रहे थे। मैंने उनका आशय समझ लिया। यह सोचकर मन चंचल हो उठा कि यदि बड़े मामा कागजातों पर हाथ लगायें, तो क्या होगा?

महाराज ज्योंही गये, त्योंही बड़े मामा ने काली मामा के साथ 'तू-तू मैं-मैं' शुरू कर दिया। अन्त में ''नहीं देगा?'' – कहकर पलक झपकते ही वे सारे कागजात हाथ में लेकर खड़े हो गये। लेकिन उन्होंने मुड़कर मेरी ओर देखा, तो रास्ता बन्द था। बड़े मामा कातर कण्ठ से बोले, 'भाई, हट जा, जाने दे।'' उसके बाद दोनों भाइयों में कागजों को लेकर खींचातानी होने लगी। हो-हल्ला सुनकर शरत् महाराज लौट आये। आते ही मुझे जोर से डाँटा – ''खड़े-खड़े देख क्या रहा है?'' घुड़की सुनकर बड़े मामा बैठ गये। काली मामा जाकर अपने स्थान पर बैठे। बड़े मामा ने कागजात महाराज के सामने रख दिये।

ऐसी घटना प्राय: ही होते-होते रह जाती थी। लोग बीच में आ जाते थे। लेकिन एक बात की ओर मेरा ध्यान गया है कि मामा लोगों के इन सारे विवादों के बीच भी माँ तथा शरत् महाराज धीर-स्थिर बने रहते थे।

इन्हीं दिनों एक बार बातचीत के दौरान शरत् महाराज ने कहा, ''हम लोगों को तो देख रहे हो, कोई तीस वर्ष से साधु है, तो कोई पचीस वर्ष से, परन्तु पान से जरा-सा चूना खिसक जाय, तो भी हम आगबबूले हो जाते हैं। पर माँ क्या करती हैं, देखते हो न! उन्हीं के भाई लोग कितना सब हंगामा करते हैं, लेकिन माँ जैसी हैं, वैसी ही धीर-स्थिर बनी रहती हैं।'' बिल्कुल सही बात है। मैं देखता कि प्रतिदिन ही किसी छोटी-मोटी बात को लेकर झंझट शुरू हो जाता, पर माँ का ऐसा भाव था – मानो वे उस मकान में ही न हों।

मनुष्य का मन आदर्श को जानने के बाद, अज्ञात रूप से ही उस आदर्श के साथ दूसरों की तुलना करके उनका मूल्य आंकने लगता है। हम लोगों के आदर्श ठाकुर और माँ हैं। ठाकुर का दर्शन पाने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। पर कर्म के बीच माँ के दर्शन पाने का जितना भी सौभाग्य मुझे मिला, उससे मुझे लगा कि संघ चलाने के लिये शरत् महाराज में जो धैर्य, सहानुभूति तथा आन्तरिक अनुकम्पा दीख पड़ती है, वह सब कुछ उन्हें माँ के ही आशीर्वाद से प्राप्त हुआ था।

मामा लोगों के बँटवारे के गवाह थे – स्वामी सारदानन्द, सारदा प्रसाद चट्टोपाध्याय (ताजपुर) एवं शम्भुनाथ राय (जिवटा)। यथासमय गवाहों की लिखा-पढ़ी आरम्भ हुई। ताजपुर के सारदा प्रसाद बाबू ने मामा लोगों के द्वारा माँ से पुछवाया कि वे किस मकान में रहना चाहेंगी। माँ ने उत्तर दिलवाया, ''ठाकुर कहते थे, 'चूहे बिल बनाते हैं – साँप उसी बिल में रहता है।'' यह बात सुनकर सारदा प्रसाद बाबू ने पुन: मामा लोगों के द्वारा माँ से पुछवाया – प्रसन्न, काली आदि के बीच कमरे, मकान, जमीन का बँटवारा हो रहा है, तो उनके (माँ) लिये कोई कमरा निर्धारित न रहने पर वे जयरामबाटी में कैसे रहेंगी? माँ ने कहला भेजा, ''दो दिन प्रसन्न के घर, दो दिन काली के घर रहूँगी।'' सारदा प्रसन्न बाबू ने और कुछ नहीं पूछा। माँ जिस कमरे में रहती थीं, वह उन्होंने प्रसन्न मामा के हिस्से में डाल दिया।

पंचों के फैसले की लिखा-पढ़ी हो गयी। एक अच्छा दिन देखकर कोतुलपुर जाकर दलील की रजिस्ट्री हो गयी। उसके बाद मामा लोगों ने कागजात के अनुसार जमीन-जायदाद पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

माँ ने योगीन-माँ और गोलाप-माँ से कलकत्ता आने की इच्छा व्यक्त की। शरत् महाराज ने यात्रा का दिन निश्चित किया और माँ ने उस दिन चलने की सहमति दी।

२१ मई, शुक्रवार को चार गाड़ियाँ आयीं। संध्या के पूर्व माँ ने यात्रा शुरू की। रास्ता भटक जाने के कारण गाड़ी रात के दस बजे कोआलपाड़ा के एक मन्दिर के सामने ठहर गयी। मन्दिर के बरामदे में बैठकर रात का भोजन हुआ – उसके बाद गाड़ी फिर चलने लगी। सुबह के लगभग आठ बजे गाड़ी जयपुर पहुँची। यहाँ स्नान-भोजन करके सब लोग फिर गाड़ी में बैठे। यहीं से विष्णुपुर का जंगल शुरू हुआ। जिन चार गाड़ियों की बात मैंने कही; उनमें से एक में माँ, राधू तथा माकू; दूसरी में योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ; तीसरी में अकेले शरत् महाराज और चौथी में जयरामबाटी का आशुतोष नामक एक भक्त और मैं। बैलगाड़ी के स्टेशन पर पहुँचते ही कुलियों के सिर पर सामान रखवाकर हम लोग भीतर पहुँचे। टिकट लेकर आते ही ट्रेन आ पहुँची। विष्णुपुर स्टेशन पर ट्रेन केवल दो मिनट ही रुकती है। जल्दबाजी के कारण माँ को इंटर क्लास के एक ऐसे डिब्बे में चढ़ाना पड़ा, जिसमें एक अत्यन्त वृद्ध उत्तर-भारतीय मुसलमान तथा उनकी पत्नी बैठे हुए थे। ट्रेन चल दी।

अगले दिन २३ मई, रविवार को सुबह माँ का उद्बोधन के भवन में पहली बार पदार्पण हुआ। वह दिन उद्बोधन-कार्यालय में बिताने के बाद अगले दिन मैं मठ लौट आया।

१९१३ ई. के अगस्त महीने में मेदिनीपुर जिले के काँथी अंचल में बाढ़ आयी थी। रामकृष्ण मिशन ने भगवानपुर में आठ महीने तक राहत-कार्य चलाया था। उस सेवा-कार्य में मैं भी गया। १९१४ ई. के बैशाख मास में वह कार्य पूरा हो जाने के बाद मैं मठ लौटा। एक दिन मठ में सहसा खबर पहुँची कि मूत्राशय (kidney) की भयानक पीड़ा के कारण शरत् महाराज ने बिस्तर पकड़ लिया है। तीन-चार दिन बाद पूजनीय बाबूराम महाराज ने मुझे शरत् महाराज की सेवा के लिये भेज दिया। उस समय माँ उद्बोधन भवन में ही निवास कर रही थीं। उद्बोधन पहुँचकर मैं सर्वप्रथम माँ को प्रणाम करने पहुँचा। देखा – माँ का अब वह धीर-स्थिर भाव नहीं है। मुझे देखकर वे व्याकुलतापूर्वक बोलीं, "अब क्या होगा बेटा, मेरा सृष्टिधर तो बीमार पड़ा है?" इसके पहले मैंने माँ को इतनी बेचैन कभी नहीं देखा था।

शरत् महाराज लेटे हुए थे। मैं दबे-पाँव जाकर उनकी शय्या के किनारे खड़ा हो गया। उन्होंने क्या कहा – यह मैं समझ नहीं पाया। तब श्रीमान् निर्मल (स्वामी माधवानन्द) ने मुझे समझाकर बताया। दस-बारह दिन बाद शरत् महाराज स्वस्थ हो गये। मैं वापस मठ लौट आया।

१९१६ ई. की मई में मैं शरत् महाराज और योगीन-माँ के साथ वृन्दावन में था। २५ मई को हम लोग कलकत्ता लौटे। शरत् महाराज के वृन्दावन में रहते समय ही जयरामबाटी में माँ के (नये) मकान का उद्घाटन हुआ था। स्वामी अरूपानन्द ने उद्घाटन-समारोह का विवरण शरत् महाराज को लिखा था। विभिन्न समाचारों के अतिरिक्त उसमें यह भी लिखा था – "मकान के उद्घाटन के समय आप उपस्थित नहीं हो सकेंगे, अतः माँ की इच्छा है कि आप कलकत्ता वापस लौटने के बाद एक बार जयरामबाटी आकर मकान कैसा हुआ है, यह देख जायँ।"

कलकत्ते लौटने के कुछ दिनों बाद ही शरत् महाराज जयरामबाटी के लिये रवाना हुए। उनकी इस यात्रा में भी मैं उनके साथ गया था।

एक दिन शरत् महाराज ने मुझे बुलाया और मेरे हाथों में एक कागज देकर बोले, "पढ़कर देख तो, यदि कुछ इसमें बदलने लायक हो, तो मुझे बताना।" इस बार शरत् महाराज माँ के नये मकान के बैठकखाने के कमरे में ठहरे थे और मैं काली मामा के बैठकखाने में ठहरा था। शरत् महाराज के पास से लौटकर मैंने पूरे कागज को आदि से अन्त तक पढ़ा। देखा – जगद्धात्री के नाम अर्पणपत्र का मसविदा है।

निर्धारित हुआ कि माँ उद्बोधन आयेंगी। रास्ते में कोआलपाड़ा के जगदम्बा आश्रम में वे दो दिन ठहरेंगी, तभी अर्पणनामे की रजिस्ट्री होगी। उसके बाद माँ आगे की यात्रा करेंगी।

यथासमय माँ पालकी में कोआलपाड़ा पहुँचीं। साथ में स्वामी सारदानन्द, स्वामी सुबोधानन्द (खोका महाराज), बाँकुड़ा से आये विभूतिभूषण घोष आदि पैदल चले। कुली के सिर पर सामान रखकर मैं भी उसके साथ चला।

उसी दिन शाम को वे कोआलपड़ा के जगदम्बा आश्रम पहुँचीं। उसके अगले दिन संध्या के बाद कोतुलपुर से सब-रजिस्ट्रार आये। कागजातों की रजिस्ट्री सम्पन्न हुई।

अगले दिन संध्या के पूर्व सभी (कोआलपाड़ा से) बैलगाड़ी में सवार होकर कलकत्ता आने के लिये विष्णुपुर की ओर रवाना हुए। एक दिन विष्णुपुर में रुककर अगले दिन फिर चलकर संध्या के बाद माँ उद्बोधन-भवन में पहुँचीं। आषाढ़ महीने में माँ उद्बोधन आयीं – श्रावण महीने में श्रीमहाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) के साथ कन्याकुमारी-दर्शन के लिए रवाना हुए। महाराज ने मुझे भी साथ में ले लिया था। इस यात्रा में मैं प्रायः सत्रह महीने तक महाराज के साथ दक्षिण भारत और पुरी में था।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

कर्मयोग की साधना (४)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१०. बन्धन का स्वरूप

पहले तो यही बात स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती कि आत्मा कैसे जीवन के साथ आबद्ध हो गयी ! अद्वैत मत में जीवन को (स्वप्नवत्) भ्रान्ति मानकर इसका समाधान कर लिया गया है। पर व्यावहारिक अनुभूतियों की व्याख्या करने के लिये वह दो प्रकार की आत्माओं की स्थिति की कल्पना करता है – साक्षी या द्रष्टा-रूप आत्मा और कर्ता-रूप आत्मा। साक्षी रूप आत्मा शुद्ध स्वप्रकाश आत्मा है, जो चिरमुक्त तथा असीम है। यह वास्तविक आत्मा जब बुद्धि के द्वारा आवृत्त या सीमित हो जाती है, तब यह अनुभव-सिद्ध आत्मा प्रतीत होती है और कर्मों की कर्ता बन जाती है। बन्धन केवल अनुभव-सिद्ध आत्मा पर ही लागू होता है। श्री रामानुज तथा वेदान्त के अन्य आचार्य मानते हैं कि आत्मा केवल एक ही है और वही साक्षी तथा कर्ता (दोनों) है। आत्मा यद्यपि स्वरूपत: शुद्ध, स्वप्रकाश तथा ब्रह्म का अंश है, तथापि इसे आवृत्त करनेवाली मन की अशुद्धियाँ इसे ढँक देती हैं और वह कर्मों से आबद्ध हो जाती है।

तो भी समस्त हिन्दू मतवाद एकमत से स्वीकार करते हैं कि आत्मा अपरिवर्तनीय है; और गति, परिवर्तन तथा क्रिया आत्मा में नहीं, बल्कि शरीर तथा मन में होती है, जो प्रकृति के रूपान्तरण हैं। आत्मा, प्रकृति की क्रिया को ग्रहण कर लेती है और स्वयं को कर्ता मान बैठती है। यह ग्रहण करना इच्छा के माध्यम से होता है। वस्तुत: इच्छा ही आबद्ध होती है। प्रत्येक क्रिया के आधार-रूप में इच्छा विद्यमान होती है।

इच्छा तथा 'अहं'-चेतना, क्रमश: आत्मा के सक्रिय तथा निष्क्रिय पहलू हैं। इच्छा को चेतना का केन्द्र कहा जा सकता है। जैसे 'अहं'-चेतना स्वरूपत: शुद्ध तथा मुक्त है, वैसे ही इच्छा भी मूलत: मुक्त है, पर वस्तुत: वह कामनाओं द्वारा आबद्ध हो जाती है। हमारे द्वारा सम्पन्न होनेवाले अधिकांश कर्म इस अशुद्ध तथा आबद्ध इच्छा के द्वारा प्रेरित होते हैं। कामनाएँ इच्छा तथा कर्म के बीच प्रविष्ट होकर कर्म का स्वरूप बदल देती हैं। प्रतिदिन हम लोग अनेक संकल्प करते हैं और हमारे अधिकांश कार्य इन संकल्पों द्वारा ही परिचालित होते हैं। यदि हमारी इच्छा, कामनाओं की पकड़ से मुक्त हो जाय, तो हमारी सारी क्रियाएँ शुद्ध इच्छा के द्वारा प्रेरित तथा समर्थित होंगी। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के 'देववाणी' ग्रन्थ के निम्नलिखित शब्द स्मरणीय हैं –

"सर्वदा स्मरण रखो कि मुक्त या स्वाधीन व्यक्तियों की ही स्वाधीन इच्छा होती है – शेष सभी बन्धन के भीतर रहते हैं और वे जो कुछ करते हैं, उसके लिये उत्तरदायी नहीं हैं।"[२३]

११. कर्मों के फल

'कर्मफल', 'कर्म का परिणाम', 'नि:स्वार्थ कर्म' आदि शब्दों के प्रयोग को लेकर लोगों में काफी भ्रम फैला हुआ है। अत: कर्म के प्रभावों के विषय में स्पष्ट धारणा होना जरूरी है। कर्म मुख्यत: तीन प्रकार के फल उत्पन्न करता है – (१) फल या परिणाम, (२) संचित कर्म या कर्माशय आदि नामों से परिचित कर्म का अवशेष और (३) मन में संस्कार के रूप में। वर्तमान सन्दर्भ में कर्म के इन तीन प्रभावों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(१) कर्मफल – प्रत्येक कार्य किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही हाथ में लिया जाता है। मीमांसकों का कहना है – "बिना किसी उद्देश्य के एक मूर्ख तक कोई कार्य नहीं करता।"[२४] देर या सबेर कर्म हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति – उद्देश्य की पूर्ति कराता ही है। लक्ष्य की इस प्राप्ति को कर्म का परिणाम या कर्मफल कहते हैं।

कर्मयोग में स्पष्टत: इसी का त्याग करने को कहा जाता है। जैसा कि गीता में कहा गया है – "केवल कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फलभोग में नहीं।" इस सन्दर्भ में प्राय: ही पूछा जानेवाला एक प्रश्न यह है – "बिना किसी फल की आशा में कोई कर्म करना भला कैसे सम्भव है? एक माली – उद्यान में सुन्दर फूल होने की अपेक्षा के बिना भला कैसे ठीक-ठीक कार्य करेगा? एक छात्र परीक्षा में

२३. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ७, पृ. ११६

२४. प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। (कुमारिल भट्ट कृत श्लोक-वार्तिक)

अच्छे अंकों के साथ पास हों, इस आशा के बिना शिक्षक उसे कैसे पढ़ायेगा? रोगी को आरोग्य प्राप्त होने की आशा के बिना चिकित्सक उसका इलाज ही क्यों करेगा?

(पर) वास्तविकता तो यह है कि आपको कर्मों का फल नहीं, बल्कि उससे जुड़ी हुई स्वार्थपूर्ण अपेक्षाएँ त्यागने को कहा जाता है। माली को जी-जान से सर्वोत्तम फूल उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिये, पर वह इसे दूसरों के आनन्द के लिये करे, न कि स्वयं की प्रशंसा पाने हेतु। शिक्षक अपने छात्रों को भलीभाँति पढ़ाने का जी-जान से प्रयास करे, परन्तु वह इसे उन लोगों की भलाई के लिये करे, न कि अपने लिये धन तथा नाम-यश अर्जित करने के लिये। चिकित्सक अपने रोगी को ठीक करने के लिये यथासाध्य प्रयास करे, परन्तु वह इसे केवल रोगी की भलाई के लिये ही करे, न कि धन या नाम-यश की प्राप्ति के लिये।

स्वार्थपूर्ण कामनाओं के बिना कार्य करने को निष्काम-कर्म अथवा 'कर्म के लिये ही कर्म' कहते हैं। यही कर्म का मूल तत्त्व है। (यहाँ 'नि:स्वार्थ कर्म' शब्द का प्रयोग करने से बहुधा बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। यहाँ 'सेल्फ' का अर्थ आत्म-चेतना या अहं-बोध नहीं है, क्योंकि अहं-बोध के बिना कोई भी कर्म कर पाना असम्भव है। यहाँ सेल्फ का अर्थ है 'निम्नतर आत्मा' अर्थात् स्वार्थपरता।)

(२) संचित कर्म – कर्म का दूसरा प्रभाव है – उसका रहस्यमय ब्रह्माण्डीय परिणाम। भारत में अति प्राचीन काल से ही प्रचलित मान्यता के अनुसार, हर भला या बुरा कर्म एक अदृष्ट अवशिष्ट फल उत्पन्न करता है, जो कहीं संचित पड़ा रहता है। यह संचित अवशिष्ट कर्मफल वेदान्त में संचित कर्म और पातंजल योग-दर्शन में कर्माशय कहलाता है। यदि मूल कर्म अच्छा हो, तो उसका अवशिष्ट परिणाम पुण्य होगा और यदि मूल कर्म बुरा हो, तो उसका अवशिष्ट परिणाम पाप होगा। यह संचित फल अगले जन्म में (कभी-कभी इस जन्म में ही) कर्ता के पास लौट आता है और उसके अगले जन्म का परिवेश निर्धारित करता है। संचित कर्म का अगले जन्म में विपाक होने पर वह प्रारब्ध कहलाता है। (यह प्रारब्ध ही आम लोगों की भाषा में भाग्य, ललाट-लिखन या कपाल कहलाता है।)

वस्तुत: संचित कर्म या कर्माशय ही पुनर्जन्म का कारण है। जब तक पुण्य या पाप के रूप में संचित कर्म बचे हैं, तब तक व्यक्ति को प्रारब्ध-रूपी अपने मूल कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म लेना होगा। व्यक्ति के कर्मफल के अनुसार विवश होकर जन्म लेना बन्धन कहलाता है। इस बन्धन के कारण ही आत्मा बारम्बार जन्म लेती है और संसार-चक्र की सृष्टि होती है। कर्म की ये ही सारी प्रक्रियाएँ मिलकर कर्म का विधान कहलाती हैं।

कर्म का विधान मानवीय नियंत्रण के परे है। प्रारब्ध जब सक्रिय हो जाता है, तो कोई भी मानवीय शक्ति इसे रोक नहीं सकती। यदि किसी व्यक्ति ने पिछले जन्म में बुरे कर्म किये हैं, तो उनके फलस्वरूप वर्तमान जन्म के प्रारब्ध के रूप में उसे कष्ट भोगना पड़ेगा। वैसे भक्ति के आचार्यों का विश्वास है कि चूँकि ईश्वर कर्म-विधान के नियन्ता हैं, अत: वे किसी व्यक्ति के प्रारब्ध को करने, न करने या अन्य प्रकार से (कर्तुं, अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम्) करने में समर्थ हैं। मानव के भाग्य में दैवी हस्तक्षेप को ईश्वरीय कृपा कहते हैं।

(३) संस्कार – कर्म का तीसरा परिणाम व्यक्ति के मन पर होता है। हर क्रिया मन में एक छाप या चिह्न पैदा करती है, जिसे संस्कार कहते हैं। संस्कार केवल छाप मात्र नहीं, अपितु एक सक्रिय शक्ति है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं – (क) भोग-वासना (या केवल वासना) जो स्वयं को आवेगों, सहज प्रेरणाओं, कामनाओं तथा भावनाओं के रूप में अभिव्यक्त करती है; और (ख) स्मृति, जो नाम अर्थात् शब्दों तथा रूप अर्थात् मानसिक चित्रों के रूप में प्रकट होती है।

हमारा प्रत्येक कार्य या अनुभव उसे पुन: दुहराने की प्रवृत्ति रखता है। एक सिगरेट पीने के बाद दूसरी सिगरेट पीने की प्रवृत्ति होती है। जो संस्कार मन में इस इच्छा या प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है, उसे भोग-वासना या वासना कहते हैं।[२६] भोग-वासनाएँ भली भी होती हैं और बुरी भी। वासना क्रमश: सहज-प्रवृत्ति में परिणत हो जाती है। हमें कर्म में प्रवृत्त करनेवाली हमारी सारी कामनाएँ, इच्छाएँ, प्रेरणाएँ, भावनाएँ इस वासना का ही अंकुरण हैं।

प्रत्येक कर्म मन में एक अन्य प्रकार का संस्कार भी छोड़ जाता है, जिसे 'स्मृति' कहते हैं। इस स्मृति-संस्कार के फल -स्वरूप मन में विचारों तथा मानसिक चित्रों के रूप में स्मृति का उदय होता है।[२७] जिस व्यक्ति ने सिगरेट पीने की आदत पर विजय प्राप्त कर ली है, वह सिगरेट पीने की कामना का अनुभव किये बिना ही अपने पुराने अनुभव का स्मरण कर सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी अनुभव की स्मृति और उस अनुभव को दुहराने की इच्छा या प्रवृत्ति – दो भिन्न चीजें हैं।

तथापि, स्मृति तथा वासना प्राय: अन्तरंग रूप से आपस में जुड़ी होती हैं, और एक के जागने से दूसरी स्वत: ही जाग्रत हो उठती है। स्मृति तथा वासना मन में एक साथ ही अंकित होती हैं और आपस में अन्तरंग रूप से जुड़ी होती हैं। परन्तु वे मन की दो भिन्न क्रियाओं को प्रकट करती हैं;

२६. इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बँगला में जिसे सामान्यत: वासना (हिन्दी कामना) कहा जाता है, उसे पतंजलि ने क्लेश कहा है और बँगला में जिसे स्मृति कहते हैं, उसे पतंजलि ने वासना कहा है।

२७. पातंजल योगसूत्र, चतुर्थ पाद, सूत्र ८-९

और यह भेद महत्त्वपूर्ण है। स्मृति एक तरह की कल्पना है, जिसमें नाम तथा रूप प्रकट होते हैं। यह प्रक्रिया अपने आप में अहानिकर है। पर वासनाओं की बात भिन्न है; वासनाएँ शरीर में परिवर्तन लाती हैं और आत्मा को विषय की ओर खींच ले जाती हैं। जिस व्यक्ति ने घृणा, भय आदि प्रवृत्तियों पर विजय पा ली है, उनसे जुड़े हुए मनोचित्र उसके समक्ष प्रकट हो सकते हैं, पर ये रूप उसमें आवेग नहीं पैदा करते। यदि मन में कुछ अवांछित रूपों का उदय हो, तो व्यक्ति को घबड़ाने की जरूरत नहीं। यदि वे गलत भावनाओं के साथ जुड़ जायँ, तभी वे खतरनाक हो जाती हैं। स्मृतियों तथा वासनाओं का योग, अभ्यास के द्वारा उत्पन्न एक तरह की परस्पर-आश्रित स्वचालित क्रिया है। पर विवेक, विचार, प्रार्थना तथा बारम्बार प्रयास के द्वारा इस जोड़ को तोड़ा जा सकता है। तरुणावस्था में बुरे संग के कारण, विभिन्न नामों तथा रूपों के साथ उत्पन्न गलत भावनाओं के साथ गलत संयोग ही मनुष्य के अधिकांश कष्टों का कारण है।[२८]

वर्तमान प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मरणीय बात यह है कि केवल वासनाओं के द्वारा उत्पन्न कामनाएँ या प्रवृत्तियाँ ही जीवात्मा को बन्धन में डालती हैं, न कि अनुभवों द्वारा उत्पन्न स्मृतियाँ। वासना एक सक्रिय तत्त्व है, जो केवल स्मृति के साथ जुड़ जाता है और यही जीवात्मा के बन्धन की सृष्टि करता है। कर्म ही भोग-वासना या कामना को उत्पन्न करता है। जिस व्यक्ति ने कभी सिगरेट पीया ही नहीं, उसके मन में सिगरेट पीने की कामना नहीं आ सकती। बहुत हुआ तो उसके मन में इसके लिये जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि स्वयं भोग-वासनाएँ भी दो प्रकार की होती हैं। एक है इन्द्रियों के विषयों को भोग करने की कामना, जिसे **विषय-भोग-वासना** कहते हैं; और दूसरा है अपने कर्मफलों को भोग करने की कामना, जिसे **फल-भोग-वासना** कहते हैं। प्रथम प्रकार की कामना मनुष्य तथा पशु में समान है, परन्तु दूसरे प्रकार की कामना एकमात्र मनुष्य का ही वैशिष्ट्य है। हम न केवल अपने कर्मों के फल पाने की आशा करते हैं, अपितु योजना, षड्यंत्र या संघर्ष के द्वारा भी उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। और यदि हम अपने कर्मों के आशानुरूप फल पाने में असफल हुए, तो हमें हताशा का बोध होता है। मनुष्य के कम-से-कम आधे दुःखों का कारण कर्मफलों के प्रति उसकी आसक्ति है और यही मानवीय बन्धन का प्रमुख कारण है। गीता कहती है – **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** – केवल कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल-भोग में कदापि नहीं।'' सम्पूर्ण विश्व के विधाता ईश्वर ही समस्त कर्मफलों के स्वामी हैं। कर्म की शाखा-प्रशाखाओं का पूरा विवरण इस प्रकार है –
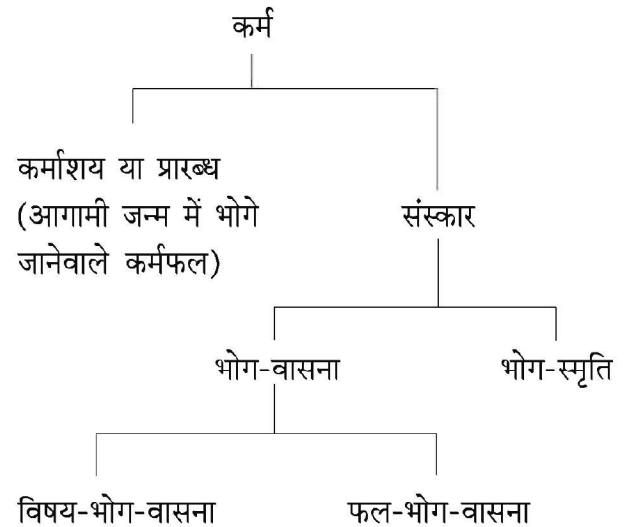
१२. इच्छाशक्ति की भूमिका

प्राण या जीवनी-शक्ति निरन्तर संस्कारों को सक्रिय कर रही है और इसके फलस्वरूप हमारे मनों में निरन्तर कामनाओं तथा स्मृतियों का उदय हो रहा है, यद्यपि उनमें से केवल कुछ पर ही हमारा ध्यान जाता है। कामनाएँ भी अपने आप में कष्टदायी नहीं हैं। केवल जब इच्छाशक्ति जाकर कामनाओं से जुड़ जाती है, तभी वे हमारे अपने संकल्प में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार कामनाएँ जब हमारी अन्तरात्मा से जुड़ जाती हैं, तो वे चेतना की शक्ति पाकर सजीव हो उठती हैं और हमें अभिभूत कर लेती हैं। परन्तु वैराग्य की सहायता से इच्छाशक्ति को खींच लिया जाय, तो कामनाएँ पिचककर निर्जीव हो जाती हैं और थोड़ी देर चेतना के दायरे में रहने के बाद अदृश्य हो जाती हैं। दीपावली की रात में यदि आप किसी भारतीय नगर के मकान की छत पर खड़े हों, तो आपको सैकड़ों आतिशी रॉकेट, पटाके आदि ऊपर उठकर अपने चारों ओर फटते हुए दीख पड़ेंगे। परन्तु आप उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार एक अनासक्त या विरागी व्यक्ति भी अपने मन में कामनाओं को उठते तथा लुप्त होते हुए देखता रहता है, परन्तु वे उसे कोई कष्ट नहीं दे पातीं।

हमने देखा कि मानवीय कामनाएँ दो प्रकार की होती हैं – इन्द्रियों के विषयों के लिये कामना (विषय-भोग-वासना) और अपने कर्मों के फल प्राप्त करने की कामना (फल-भोग-वासना)। इच्छाशक्ति को दोनों ही प्रकार की कामाओं से मुक्त करना होगा। भोग्य विषयों के त्याग को ***विषय-संकल्प-त्याग*** कहते हैं और अपने कर्मों के फल के त्याग को ***फल-संकल्प-त्याग*** कहते हैं। वैराग्य का अर्थ है इन दोनों

२८. कर्माशय तथा वासना पर उपरोक्त चर्चा योगसूत्र २:१८ पर भोज की वृत्ति तथा योगसूत्र २:१२, ४:११ पर हरिहरानन्द अरण्य की बँगला टिप्पणियों पर आधारित है।

प्रकार की कामनाओं से मुक्ति। कामनाओं को प्रारम्भ में ही नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश के द्वारा ही कामनाओं (भोग-वासना) के बीजों को नष्ट किया जा सकता है। परन्तु साधक-जीवन के प्रारम्भ में जरूरत इस बात की है कि कामनाओं को भौतिक अभिव्यक्ति का अवसर न देकर उनके अन्तर्निहित, सूक्ष्म, बीज अवस्था में ही रूपान्तरित कर दिया जाय। यदि कामनाएँ प्रकट हों, तो अपनी इच्छाशक्ति को उनसे मुक्त करना होगा। साधक को सर्वप्रथम इसी मुक्ति की उपलब्धि करनी होगी और कर्मयोग का प्राथमिक उद्देश्य यही है।

इच्छाशक्ति जब कामनाओं से मुक्त हो जाती है, तब ईश्वर के लिये व्याकुलता इसे अन्दर की ओर प्रेरित करती है। इच्छाशक्ति की कामनाओं से मुक्त होकर अन्दर जाने की प्रवृत्ति को सुरेश्वराचार्य ने प्रत्यक्-प्रवणता (मन की अन्तर्मुखता) कहा है। समस्त वेदान्तिक आचार्यों के मतानुसार कर्मयोग का यही प्रथम उद्देश्य है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं – जिस प्रकार बादल वर्षा करके लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी प्रत्यक्-प्रवणता को उत्पन्न करके लुप्त हो जाते हैं।[२९] इस प्राथमिक मुक्ति को प्राप्त किये बिना मुक्ति की उच्चतर श्रेणियों को प्राप्त करना असम्भव है।

चूँकि कर्म के द्वारा ही मन में वासना-कामना उत्पन्न होती है और कामना तथा इच्छाशक्ति के बीच सम्बन्ध भी प्राय: कर्म के द्वारा ही उत्पन्न होता है, अत: ये दोनों परिणाम कर्म के द्वारा ही नष्ट भी किये जा सकते हैं। भले कर्मों के द्वारा ही गलत कर्मों के बुरे परिणामों को नष्ट किया जा सकता है। कर्म ही सुप्त कामनाओं को जगाता है और कर्म ही उन्हें नियंत्रित कर सकता है। बुरे कर्मों के फल केवल चिन्तन-प्रक्रिया के द्वारा ही आसानी से मिटाये नहीं जा सकते। यदि कोई इसमें आंशिक रूप से सफल भी होता है, तो उसे वास्तविक जीवन में इसे कर्म के द्वारा परीक्षण करके देखना होगा। इसीलिये कर्मयोग के लिये चित्तशुद्धि को एक अपरिहार्य साधन माना जाता है। इसीलिये शंकराचार्य कहते हैं – **न हि अचलतः शुद्धिरस्ति** – जो व्यक्ति अगतिशील (स्थिर) रहता है, अर्थात् कर्म नहीं करता, उसकी शुद्धि नहीं होती।''

२९. नैष्कर्म्य-सिद्धि, १:४९

❖ (क्रमशः) ❖
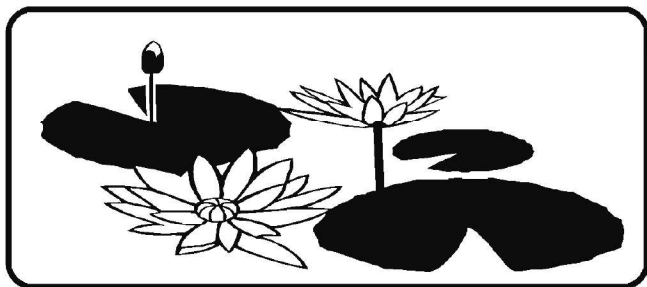
कर अपना उद्धार

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

क्षणभंगुर है तन, जीवन में
मन ! दीपक-सम जल।
चलना है, तो मानवता के
पावन पथ पर चल।।

पल-पल जलते रहना ही है
तेरा सच्चा स्वार्थ,
स्वार्थ वही धिक्कार योग्य है,
जहाँ नहीं परमार्थ,
परहित ही नदियों का जल है,
वृक्ष न खाते फल।
क्षणभंगुर है तन, जीवन में
मन ! दीपक-सम जल।।

तनबल, धनबल, जनबल पाकर
क्यों करता अभिमान,
महाकाल से बढ़कर कोई
और नहीं बलवान,
अहंकार-आडम्बर से तू
नहीं स्वयं को छल।
क्षणभंगुर है तन, जीवन में
मन ! दीपक-सम जल।।

वृत्ति-वर्तिका पीती जाये
पुण्य प्रेम का तेल,
जगमग ज्योति जगे जीवन की
हो प्रकाश का खेल
छल न किसी को जग-जीवन में
बन करके तू खल।
क्षणभंगुर है तन, जीवन में
मन ! दीपक-सम जल।।

छोड़ असत् को, सत् से ही तू
जोड़ कर्म के तार
ऊर्ध्वमुखी पंकज-सम उठकर
कर अपना उद्धार,
जो करना है, करता चल तू,
क्यों करता कल-कल ?
क्षणभंगुर है तन, जीवन में
मन ! दीपक-सम जल।।

स्वामी विरजानन्द (५)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

स्वामीजी ने केवल दो सप्ताह ही मायावती में निवास किया था। विरजानन्द के मन में इन दो सप्ताहों की स्मृति सदा ही ताजा रहा करती थी। मायावती में स्वामीजी सबको बहुत-सा आनन्द तथा प्रेरणा प्रदान कर गये थे। हिमालय के निर्जन प्रदेश में गुरुदेव के साथ घनिष्ठ सान्निध्य उनके समग्र आध्यात्मिक जीवन की एक परम सम्पदा हो गयी थी। इसीलिये इन दिनों की स्मृतिकथा बताते हुए वे भावविभोर हो जाते थे।

एक दिन विरजानन्द ने स्वामीजी के समक्ष कुछ दिन निर्जन में रहकर तपस्या करने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी उन्हें खूब समझाते हुए बोले, "कठोर तपस्या करके शरीर को बरबाद मत करो। देख न, हम लोगों ने कठोरता करके अपने शरीर को नष्ट कर डाला है। इससे क्या लाभ हुआ? तुम लोग हमारे अनुभव से सीखो। फिर ध्यान भी भला कितनी देर तक करोगे? पाँच मिनट – यहाँ तक कि यदि एक मिनट भी मन स्थिर हो जाय, तो वही काफी है। इसके लिये सुबह-शाम नियमित रूप से थोड़ी देर जप-ध्यान करने की जरूरत है। बाकी समय शास्त्र-पाठ तथा लोकहित के कार्य लेकर रहना पड़ता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे शिष्यगण तपस्या की जगह कार्य पर ही अधिक ध्यान दें।" तथापि विरजानन्द ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा, "हाँ, आप जो कह रहे हैं, वह ठीक ही है। तथापि चरित्र-बल तथा आध्यात्मिक शक्ति अर्जित करने के लिये तपस्या की बहुत जरूरत है, अन्यथा ठीक-ठीक निष्काम कर्म करना भी सम्भव नहीं हो पाता।" विरजानन्द द्वारा यह बात कहकर दूसरी जगह चले जाने पर स्वामीजी ने सभी उपस्थित लोगों से कहा, "कालीकृष्ण जो कह रहा है, वही ठीक है। मैं उसके हृदय की बात समझता हूँ। ध्यान-भजन और संन्यासी के उन्मुक्त जीवन की भी क्या कोई तुलना है? यही तो संन्यास-जीवन का प्रधान गौरव है, यह बात भी क्या मुझे बतानी होगी! मेरा भी कभी इसी प्रकार समय बीता है – एकमात्र भगवान के ऊपर निर्भर रहते हुए भिक्षाटन करते हुए मैंने पूरे देश का भ्रमण किया है। वे भी क्या ही सुखमय दिन बीते हैं! सर्वस्व देकर भी यदि वे दिन पुन: प्राप्त हो पाते, तो मैं इसके लिये तैयार हूँ।"

अस्तु, विरजानन्द ने आखिरकार मायावती में ही रहकर अपने गुरुदेव द्वारा आकांक्षित ध्यान तथा कर्म का समन्वित आदर्श का ही अक्षरश: पालन किया था।

मायावती के अद्वैत आश्रम के एक कमरे में वेदी पर ठाकुर का चित्र रखकर उनकी नित्य पूजा की व्यवस्था की गयी थी, जिसे देखकर स्वामीजी को प्रसन्नता नहीं हुई। उनका निर्देश था कि इस आश्रम में केवल अद्वैत-भाव की ही चर्चा हो। इसीलिये वहाँ पुष्प, धूप, दीप आदि उपचारों के साथ द्वैत-भाव की उपासना स्वामीजी को पसन्द नहीं आयी। अद्वैत आश्रम में इस पूजागृह की स्थापना के प्रमुख संयोजक थे विमलानन्द तथा विरजानन्द। स्वामीजी ने यद्यपि तत्काल ठाकुर-घर उठाने का निर्देश नहीं दिया, तथापि किसी को भी उनका मनोभाव समझते देरी नहीं लगी। विरजानन्द बड़े ही लज्जित हुए। तभी से स्वामीजी की इच्छानुसार अद्वैत आश्रम में चित्र आदि रखकर आनुष्ठानिक पूजा-अर्चना करने की प्रथा सदा के लिये बन्द कर दी गयी।*

जाड़े के दिनों में मायावती के छोटे-से तालाब पर बरफ जम जाता था। एक दिन विरजानन्द वहाँ से बरफ लाये और आइसक्रीम बनाकर स्वामीजी को खिलाया था। स्वामीजी ने इस पर बड़ा आनन्द व्यक्त किया था। मायावती में विरजानन्द ही स्वामीजी का भोजन पकाते थे। एक दिन भोजन देने में काफी विलम्ब हो गया था। स्वामीजी एक बालक के समान अधीर हो उठे और सेवक को डाँटने के लिये जाकर देखा कि रसोईघर धूँए से भरा हुआ है और विरजानन्द चूल्हें में फूँक मार रहे हैं। वे चुपचाप लौट गये। बाद में भोजन लाये जाने पर वे एक छोटे शिशु के समान अभिमान करते हुए कहने लगे, "जा, ले जा, मैं नहीं खाऊँगा।" सेवक विरजानन्द स्वामीजी के बालक-स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। अत: इस पर विचलित न होकर वे स्थिर भाव से वहीं खड़े रहे। स्वामीजी का अभिमान भी न जाने कहा चला गया और उन्होंने धीरे-धीरे खाना आरम्भ किया। इसके बाद वे हँसते हुए बोले, "अब समझ में आया कि मैं क्यों इतना नाराज हो गया था! मुझे बड़ी भूख लग आयी थी।"

स्वामीजी का मायावती से लौटने का दिन निश्चित हो गया था। परन्तु उस दिन हिमपात के कारण कुलियों को

* द्रष्टव्य – स्वामी विमलानन्द अध्याय (भविष्य में प्रकाश्य)

जुटा पाना बड़ा कठिन हो गया था। स्वामीजी बड़े चिन्तित हो उठे। इस पर विरजानन्द ने कहा, "महाराज, यदि लोग नहीं मिले, तो हम लोग स्वयं ही आपकी डण्डी को उठाकर नीचे ले जायेंगे!" स्वामीजी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "तुम लोग क्या मुझे किसी खाई में गिराने की फिराक में हो?"

आखिरकार कुली मिल गये। इस बार भिन्न मार्ग से – टनकपुर तथा पीलीभीत होते हुए स्वामीजी के उतरने का मार्ग निर्धारित हुआ। स्वामीजी ने सदानन्द को बुलाकर कहा, "देख, इस बार की यात्रा की व्यवस्था का सारा भार कालीकृष्ण के ऊपर रहेगा। उसका सिर ठण्डा है और वह छोटी-मोटी बातों पर शोरगुल नहीं मचाता। वह जो कुछ भी कहेगा, हमें उसी के अनुसार चलना होगा।"

डिउरी के डाक-बँगले में चावल पकाते समय विरजानन्द एक बार फिर बड़ी कठिनाई में पड़ गये। हण्डी के आकार की तुलना में चावल की मात्रा थोड़ी अधिक हो गयी थी। उबलती हुई हण्डी किसी भी प्रकार सँभाल में नहीं आ रही थी। चावल तब भी अधपका था। सहसा स्वामीजी ने एक उपाय बता दिया, "एक काम करो। हण्डी में घी डालकर उस पर ढक्कन लगा दो। इससे वह आसानी से पक जायेगा, स्वाद भी बढ़ जायेगा।" स्वामीजी के निर्देशानुसार व्यवस्था करने पर विरजानन्द की समस्या दूर हुई और सभी लोगों ने बड़े आनन्दपूर्वक भोजन किया।

पीलीभीत के पास पहुँचकर स्वामीजी सहसा डण्डी से उतर गये और विरजानन्द को बुलाकर कहा, "आ, तुझे घोड़े पर चढ़ना सिखा देता हूँ।" थोड़ी देर तक वे अपने प्रिय शिष्य को घोड़े पर सवारी करने का कौशल आदि सिखाते रहे। इसके बाद उन्होंने विरजानन्द को एक घोड़े पर चढ़ाया और स्वयं भी एक घोड़े पर सवार हुए। इसके बाद वे चाबुक मारकर घोड़े को दौड़ाते हुए बोले, "तू भी ऐसा ही कर।" सेनापति का आदेश पाते ही सैनिक विरजानन्द का घोड़ा क्षण भर में ही तेजी से दौड़ पड़ा। इसी प्रकार आजीवन उन्होंने अपने सेनापति का अनुसरण किया था। "तू भी ऐसा ही कर" – सेनापति का यह आदेश विरजानन्द के हृदयतंत्री को शायद चिर काल तक निनादित करता रहा। उनके समग्र जीवन से यही प्रमाणित होता है।

पीलीभीत में स्वामीजी ट्रेन पर सवार हुए। स्थूल दृष्टि से गुरु-शिष्य के बीच यही अन्तिम मिलन था।

१९०१ ई. के अप्रैल में विरजानन्द केदार-बदरीनाथ तीर्थों का दर्शन करने गये थे। उनके साथ गुरुभाई ज्ञान महाराज भी थे। बदरीनाथ के भावभीने परिवेश में ध्यानप्रिय विरजानन्द और भी अधिक अन्तर्मुख हो उठे। परिव्राजक संन्यासी की इस तीर्थ-परिक्रमा के दौरान व्यय के लिये उनके पास केवल पाँच रुपये ही थे।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद उन्होंने अद्वैत आश्रम की परिकल्पना के सर्वांगीण रूपायन के कार्य में पूरी एकाग्रता के साथ मनोनियोग किया। मायावती से प्रकाशित होने वाले 'प्रबुद्ध भारत' और स्वामीजी द्वारा संकल्पित आदर्श के अनुरूप वेदान्त के व्यापक प्रचार हेतु विरजानन्द ने मदर सेवियर तथा स्वरूपानन्द के साथ पूर्ण रूप से आत्मोत्सर्ग कर दिया था। १९०१ ई. के अक्तूबर में 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के प्रचार हेतु उन्होंने उत्तरी तथा पश्चिमी भारत का दौरा किया। इसी सिलसिले में वे उत्तरप्रदेश, पंजाब, सिन्ध, गुजरात तथा महाराष्ट्र के अनेक स्थानों में पहुँचे और अनेक प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आकर तरह-तरह के अनुभव प्राप्त किये। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द का भाव किस प्रकार क्रमशः शान्तिकामी लोगों को यथार्थ कल्याण के मार्ग में प्रेरित कर रहा है, इसे प्रत्यक्ष देखकर वे आशा से उद्दीप्त हो उठे। साथ ही भारतीय समाज के अति निकृष्ट पहलू के साथ भी उनका यथेष्ट परिचय हुआ। शिक्षित धनिक-वर्ग की जघन्य मूर्ति देखकर वे विस्मित हुए थे। एक ओर जहाँ उन्हें श्रद्धा, प्रीति, स्वागत-सत्कार, सरलता देखने को मिले, वहीं कहीं-कहीं उन्हें तिरस्कार तथा अपमान के भी घूंट पीने को मिले। यहाँ तक कि किसी-किसी ने उन्हें जूते मारने तक की धमकी भी दी थी। समदर्शी विरजानन्द ने मान-अपमान – दोनों को ही समान रूप से हजम किया था।

इस भ्रमण के दौरान उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, कनखल, हरिद्वार आदि तीर्थों का दर्शन भी किया था। उनके गुरुभ्राता कल्याणानन्द के अथक परिश्रम से कुछ काल पूर्व कनखल में भी सेवाश्रम स्थापित हुआ था। विरजानन्द ने भी इस सेवाश्रम के लिये अर्थभिक्षा की थी। इसके बाद उन्होंने ऋषीकेश की झाड़ी में कुछ काल ध्यान-चिन्तन में बिताया था। ऋषीकेश के सघन आध्यात्मिक आबोहवा में विरजानन्द का मन पुनः गम्भीर तपस्या के लिये आकर्षण का बोध करने लगा।

गुजराँवाला में अद्वैतवादी साधु स्वामी हंसराज के साथ विरजानन्द की भेंट हुई। उनके पास स्वामीजी द्वारा हस्ताक्षर से युक्त एक कागज का टुकड़ा देखकर वे परम आनन्दित हुए थे। उस कागज पर संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा में लिखा था – "आज से स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती स्वामी हंसराज के नाम से परिचित होंगे।" कराची में उनकी बूढ़े बाबा (सच्चिदानन्द) तथा सुरेश्वरानन्द के साथ मुलाकात हुई। उन लोगों के साथ वे पोरबन्दर होते हुए द्वारका-दर्शन कर आये। उसके बाद विरजानन्द जूनागढ़ तथा गिरनार होते हुए अहमदाबाद गये। उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के सैकड़ों-हजारों लोग उनकी उच्च आध्यात्मिकता तथा उदार व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर काफी उपकृत हुए थे। उनकी इस प्रचार-यात्रा के फलस्वरूप 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के ग्राहकों की संख्या में भी

आशातीत वृद्धि हुई थी, यहाँ तक कि कुछ मुस्लिम सज्जनों ने भी उसकी ग्राहक-तालिका में अपना नाम लिखाया था।

इस कार्य के निमित्त जब वे अहमदाबाद में थे, तभी उन्हें वज्राघात के समान तार से स्वामीजी के देहत्याग का संवाद मिला। क्षत-विक्षत हृदय लेकर वे मायावती लौट गये। करीब दस माह बाद वे पुन: हिमालय में गये थे। पर इस बार उन्हें चारों ओर अन्धकार ही दिखाई दे रहा था।

स्वामीजी का स्वास्थ्य कुछ काल से खराब चल रहा था। चार-पाँच सेवक दिन-रात उनकी सेवा में लगे हुए थे। परन्तु स्वामीजी को विरजानन्द की सेवा ही अधिक पसन्द थी। एक दिन उन्होंने सेवकों से कहा था – "तुम इतने लोग मिलकर सब कुछ ठीक ढंग से नहीं कर पा रहे हो, परन्तु कालीकृष्ण अकेले ही सारा कार्य पूरा कर लेता था।" स्वामीजी ने मदर सेवियर तथा स्वरूपानन्द को पत्र भी लिखे थे कि मायावती के कार्य को विशेष हानि न हो और विरजानन्द को उनकी व्यक्तिगत सेवा के लिये छोड़ना सम्भव हो, तो उन्हें तत्काल मठ भेज दिया जाय। परन्तु हाय, उस समय भला कौन सोच सकता था कि स्वामीजी का शरीर इतना जल्दी चला जायेगा! विरजानन्द उस समय 'प्रबुद्ध-भारत' के कार्य से दौरा कर रहे थे और उसका काफी उत्तम सुफल होने की भी सम्भावना थी, अत: मदर सेवियर तथा स्वरूपानन्द ने विनयपूर्वक स्वामीजी को सूचित किया था कि विरजानन्द यदि मायावती का कार्य छोड़ देंगे, तो 'प्रबुद्ध-भारत' के कार्य को काफी क्षति पहुँचेगी। स्वामीजी के उस पत्र के बारे में विरजानन्द को भनक तक नहीं लगी थी। परन्तु मायावती पहुँचकर स्वामीजी की यह इच्छा उनसे अज्ञात न रही। खेद और पीड़ा से विरजानन्द अन्दर से टूट गये। इस मर्मभेदी सूचना ने उनके हृदय-मन को वेध डाला। उनका कर्म के प्रति सारा उत्साह चला गया। उन्हें जगत् शून्य प्रतीत होने लगा।

अब उन्होंने कुछ काल के लिये कर्म से छुट्टी लेकर ध्यान-भजन में बिताने का संकल्प किया। वे आश्रम से थोड़ी दूरी पर जंगल में एक कुटिया में रहकर एकान्त चित्त से साधना में निमग्न हो गये। उस दौरान प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह घण्टे जप-ध्यान करना उनका स्वाभाविक अभ्यास हो गया था। इन दिनों, बेलूड़ मठ से स्वामी तुरीयानन्द ने १८ अक्तूबर १९०२ को उन्हें दिलासा देते हुए एक पत्र में लिखा था –

"यद्यपि स्वामीजी का भौतिक शरीर चला गया है, तथापि उनकी महाशक्ति जगत् में जाज्वल्यमान है। यह शक्ति क्रमश: बढ़ती हुई अपना कार्य करती रहेगी। तुम्हें उनका आशीर्वाद मिला है, तुम्हारा कल्याण सुनिश्चित है। उनके कार्य में सहकारी होने की इच्छा करो, इस जीवन का इससे बढ़कर और क्या उद्देश्य हो सकता है? ... सिद्धि के विषय में सन्देह मत करना। दृढ़ विश्वास के साथ भजन करो। वे ही हर प्रकार से सहायता करेंगे और तुम्हारा कर्तव्य बता देंगे।"

लगातार सात-आठ महीनों तक मौनव्रत धारण के साथ कठोर तपस्या की प्रतिक्रिया के रूप में वे थोड़ी-थोड़ी शारीरिक थकान का बोध करने लगे। इन दिनों वे कुटिया के बाहर कहीं भी – यहाँ तक कि आश्रम में भी नहीं जाते थे। वे दृढ़ संकल्प के बल पर इस शारीरिक बाधा की भी उपेक्षा करते हुए मन को और भी तीव्रतापूर्वक अपने लक्ष्य में लगाये रखने की चेष्टा करते, परन्तु उनकी शारीरिक थकान में क्रमश: वृद्धि होती गयी। इसी प्रकार और भी कई माह बीत गये, परन्तु उनकी मानसिक दुर्बलता उन्हें काफी पीड़ित करने लगी। वे समझ गये कि जप-ध्यान की मात्रा में काफी वृद्धि कर देने के फलस्वरूप ही यह प्रतिक्रिया हो रही है। सबकी सलाह पर आखिरकार उन्होंने मायावती पहाड़ से नीचे उतरकर मठ में चले आने का निश्चय किया। जाते समय वे वृन्दावन में हरि महाराज के पवित्र संग में भी कुछ काल बिता गये।

मठ में स्वामी ब्रह्मानन्द उनके स्वास्थ्य की अवस्था देखकर बड़े चिन्तित हो उठे। उन्होंने कोलकाता के सुप्रसिद्ध वैद्य श्यामादास वाचस्पति से उनकी चिकित्सा तथा पथ्य आदि की सारी व्यवस्था कराई, परन्तु इसके बावजूद कोई लाभ होता नहीं दिखाई दिया। तीन-चार महीने कोई फल नहीं हुआ। शारीरिक क्लान्ति तथा मानसिक अवसाद बढ़ते ही गये। मठ के संन्यासीगण चिन्ता से आकुल हो उठे। इसी समय – १९०४ ई. के मार्च में विरजानन्द राजा महाराज की अनुमति लेकर श्रीमाँ का दर्शन करने जयरामवाटी गये थे।

शिष्य-सन्तान का दुर्बल शरीर देखकर माँ को बड़ी पीड़ा हुई, परन्तु अन्तर्यामिनी माँ ने यह भी समझ लिया कि यह व्याधि शरीर की नहीं है, बल्कि उसका कारण कुछ और है। माँ ने उनसे पूछा, "ध्यान कहाँ करते हो? हृदय में या सहस्रार में?" विरजानन्द ने उत्तर दिया, "सहस्रार में, क्योंकि वहीं ध्यान करना अच्छा लगता है। बड़ा आनन्द मिलता है।" श्रीमाँ तत्काल बोल उठीं, "यह क्या किया बेटा? वह तो अन्तिम अवस्था की – परमहंस अवस्था की बात है। पहले से ही क्या मन को इतनी ऊँची अवस्था में रखा जा सकता है? प्रारम्भ में मन को एक बार मस्तक में ले जाने के बाद उसे हृदय में उतार लाने के बाद वहीं पर इष्ट का ध्यान करना चाहिये।" भवरोग-वैद्य माँ का निदान सही था। उनके निर्देशानुसार चलकर विरजानन्द का शरीर-मन क्रमश: आरोग्य-लाभ करने लगा और उन्हें पूर्ण स्वस्थ होते देर नहीं लगी।

इसके बाद बेलूड़ मठ लौटने पर कुछ काल के लिये उन्हें तत्कालीन मठाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द की व्यक्तिगत सेवा तथा पत्र आदि लिखने के कार्य में नियुक्त किया गया था। राजा महाराज का उन पर इतना अधिक विश्वास था कि पत्रों पर हस्ताक्षर कराने के लिये उनके पास ले जाने पर वे प्राय: ही

कहते, "तुम्हीं हस्ताक्षर कर दो न।" विरजानन्द वैसा ही करते। इन्हीं दिनों राजा महाराज को बड़ा भयंकर टायफायड हुआ। विरजानन्द ने जी-जान से उनकी सेवा की। स्वस्थ हो उठने के बाद वे वायु-परिवर्तन हेतु शिमुलतला गये थे – साथ में विरजानन्द भी गये थे।

१९०५ ई. के अन्त में विरजानन्द को अमेरिका में प्रचार-कार्य में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द की सहायता करने के लिये सैन-फ्रांसिस्को भेजने का प्रस्ताव किया गया। स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द उनसे बारम्बार अमेरिका जाने का अनुरोध करने लगे। विरजानन्द की कोई भी आपत्ति काम नहीं आयी और अन्तत: वे इसके लिये राजी हो गये। परन्तु आखिरकार उन्हें अमेरिका भेजने की जरूरत नहीं पड़ी।

इसके बाद विरजानन्द श्रीमाँ के दर्शन की आकांक्षा लेकर एक बार और जयरामवाटी गये। एक दिन बातचीत के दौरान उन्होंने थोड़े शिकायत के स्वर में कहा, "माँ, साधन-भजन कुछ विशेष नहीं हुआ। कोई उपलब्धि भी नहीं हुई, ठाकुर का दर्शन नहीं मिला। मेरा क्या होगा?" माँ के गम्भीर अर्थपूर्ण उत्तर ने शिष्य-सन्तान के चित्त को तत्काल आनन्द तथा उत्साह से परिपूर्ण कर दिया। माँ ने कहा था, "बेटा, और कितना साधन-भजन करोगे? ठाकुर का दर्शन तो तुम पा ही चुके हो।"

जयरामवाटी में इस बार एक और भी स्मरणीय घटना हुई थी – माँ ने उन्हें आध्यात्मिक जीवन बिताने के इच्छुक उपयुक्त प्रार्थियों को पात्रभेद के अनुसार दीक्षा देने के मंत्र तथा साधना-पद्धति आदि के विषय में विस्तृत जानकारी भी दे दी थी। भविष्य में विरजानन्द के माध्यम से, जो गुरुरूपी विशाल वृक्ष असंख्य तप्त लोगों को शान्ति प्रदान करनेवाला था, स्वयं जगदम्बा ने ही इस बार उसका अंकुर रोप दिया था।

इसके बाद वे तपस्या तथा पूज्य स्वामी तुरीयानन्द का संगलाभ करने के लिये कुछ काल तक कनखल में रहे। वे परम निष्ठा तथा एकाग्र-चित्त के साथ तपस्या में लग गये – कनखल सेवाश्रम के ठाकुर-घर के एकान्त में वे जप-ध्यान में डूबे रहते। हरि महाराज के अग्नि-स्पर्श से विरजानन्द का वैराग्य उत्तरोत्तर उद्दीपित होते हुए उनके हृदय-मन को आलोकित करने लगा। परन्तु एक आकस्मिक संवाद ने एक बार फिर उनके संकल्प में विघ्न उत्पन्न किया – उनके अविच्छिन्न प्रशान्त तपस्या में सहसा एक विच्छेद उपस्थित हुआ। उनके गुरुभ्राता स्वामी स्वरूपानन्द का सहसा नैनीताल में देहान्त हो गया और उनके स्थान पर अद्वैत आश्रम का कार्यभार स्वीकार करने हेतु उन्हें एक बार फिर मायावती लौट आना पड़ा।

१९०६ से १९१३ ई. तक विरजानन्द अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष रहे। वैसे उक्त आश्रम के लिये यह सचमुच ही एक स्मरणीय घटना सिद्ध हुई। मायावती आश्रम के उन अर्थाभाव-संकट के दिनों में विरजानन्द के समान मितव्ययी, प्रबन्ध-कुशल, धैर्यवान तथा सहिष्णु अध्यक्ष के नेतृत्व की विशेष आवश्यकता थी। उनके कुशल संचालन में आश्रम क्रमश: स्वावलम्बी हो उठा और 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के प्रसार में भी काफी वृद्धि हुई। स्वरूपानन्द द्वारा परिकल्पित स्वामी विवेकानन्द के सम्पूर्ण साहित्य का पाँच खण्डों में संकलन तथा प्रकाशन का कठिन उत्तरदायित्व भी उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया। उक्त ग्रन्थमाला (Complete Works of Swami Vivekananda) के अतिरिक्त स्वामीजी की बृहत् अंग्रेजी जीवनी (The Life of Swami Vivekananda by his Eastern and Western Disciples) का चार खण्डों में सम्पादन तथा मुद्रण भी स्वामी विरजानन्द का एक अन्य महान् अवदान है। उन दिनों उन्हें सुबह से लेकर देर-रात तक क्या ही कठोर परिश्रम करना पड़ा था। स्वामीजी की जीवनी की पाण्डुलिपि को जब स्वामी सारदानन्द के पास संशोधन हेतु भेजा गया, तो उन्होंने कोलकाता से उन्हें एक पत्र में लिखा था, "श्री स्वामीजी की जीवनी के विषय में तुमने जो लिखा है, उसे जहाँ तक सम्भव होगा देख लूँगा। उसके संशोधन का उत्तरदायित्व मैं स्वीकार करता हूँ, परन्तु कह नहीं सकता कि मैं उसमें विशेष कुछ जोड़ सकूँगा या नहीं।... तुमसे विशेष अनुरोध है कि तुम अतिश्रम करके अपने स्वास्थ्य को बिल्कुल चौपट मत कर देना। तुम्हारे जाने से मायावती का आश्रम निश्चित रूप से बन्द हो जायेगा।... मेरी यही प्रार्थना है कि ठाकुर तुम्हें सकुशल रखें।" विरजानन्द ने अपने गुरुदेव के आशीर्वाद की अद्भुत अलौकिक शक्ति से शक्तिमान होकर इस दुरूह कार्य को सम्पन्न किया था। यह कार्य सचमुच ही समग्र राष्ट्र के लिये उनका एक चिर-स्मरणीय अवदान है।